(१०) औलूक्य-दर्शनम्

भावाः षडेव मुनिना विहितास्तदन्ते
चान्योऽप्यभाव इति सप्तपदार्थशास्त्रम् ।
सामान्यवर्णनपरोऽपि विशेषरूपो-
ऽसौ नित्यमेव जयति प्रथितः कणादः ॥
—ऋषिः ।

(१. दुःखान्त के लिए परमेश्वर का साक्षात्कार)

इह खलु निखिलप्रेक्षावान् निसर्गप्रतिकूलवेदनीयतया निखिलात्मसंवेदनसिद्धं दुःखं जिहासुस्तद्धानोपायं जिज्ञासुः परमेश्वरसाक्षात्कारमुपायमाकलयति ।

१. यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥

इत्यादिवचननिचयप्रामाण्यात् ।

इस संसार में जितने बुद्धिमान् लोग हैं वे दुःख का त्याग करना चाहते हैं क्योंकि दुःख का अनुभव करना उनकी प्रकृति के विरुद्ध पड़ता है और इस दुःख की सत्ता का अनुभव सभी लोग अपनी आत्मा में करते ही हैं। उस दुःख के विनाश के लिए कोई उपाय जानना चाहते हैं और निदान उन्हें परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही उपाय के रूप में दिखलाई पड़ता है। इसकी पुष्टि के लिए निम्नलिखित रूप में प्राप्त वचन प्रमाण होते हैं—'जब चमड़े की तरह आकाश को भी लोग ढँकने लग जायेंगे तभी शिव (परमेश्वर) को जाने बिना ही दुःख का अन्त भी होने लगेगा। (श्वेता० ६।२०)। [जिस प्रकार चमड़े को ढँकते हैं उसी प्रकार आकाश को नहीं ढँक सकते। शिव के ज्ञान के बिना मुक्ति पाना और आकाश को ढँकना तुल्य है। दोनों ही असंभव कार्य हैं।]*

---

* इस ढंग से कहना अतिशयोक्ति अलंकार का एक भेद है। यदि ऐसी-ऐसी (असंभव) बातें हों तभी इस तरह का कार्य संभव है। कालिदास पार्वती के स्मित का वर्णन करते हैं—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम् ।

विशेष—औलूक्य-दर्शन को मुख्यतया लोग वैशेषिक के रूप में जानते हैं। इसके प्रवर्तक कणाद ऋषि थे जो रास्ते पर गिरे हुए अन्न-कणों को चुनकर उन्हें ही खाकर अपनी जीविका चलाते थे। इनके कणाद या कणभक्ष (कण + अद् या भक्ष् = खाना) नाम पड़ने का यही रहस्य है। उदयनाचार्य की किरणावली के अनुसार ये कश्यप-गोत्र के ब्राह्मण थे। वायु पुराण में इन्हे प्रभास तीर्थ का निवासी, सोमशर्मा का पिता एवं शिव का अवतार माना गया है। परम्परा है है कि ये उलूक ऋषि के पुत्र थे इसलिए इस दर्शन को औलूक्य (उलूक के पुत्र का) दर्शन कहते हैं। यह भी जनश्रुति है कि कणाद तपस्या कर रहे थे जब कि उन्हें स्वयम् ईश्वर ने उलूक का रूप धारण करके छह पदार्थों का उपदेश दिया था इसलिए इस दर्शन को औलूक्य (उलूकेन प्रोक्तम्) कहते हैं।

इस दर्शन के 'वैशेषिक' नाम पड़ने के बहुत–से मत हैं। कुछ लोगों का कहना है कि अन्य शास्त्रों से, विशेषतया सांख्य से, विशेषता होने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। दूसरे कहते हैं कि गौतम के प्रतिपादित १६ पदार्थों में धर्म और धर्मी का स्पष्ट विवेचन न होने के कारण उनका परस्पर साधर्म्य और वैधर्म्य दिखलाते हुए सुव्यवस्थित रूप से द्रव्य, गुण आदि ७ पदार्थों का ही वर्णन कणाद ने किया है। इस विशेष उद्देश्य से आगे बढ़ने के कारण इसका नाम वैशेषिक पड़ा। किन्तु ये सारे कारण कपोल-कल्पनायें हैं। सच तो यह है कि 'विशेष' नामक पदार्थ पर अधिक जोर देकर इसका समीचीन विवेचन करने के कारण ही इसे वैशेषिक-दर्शन कहते हैं (व्यासभाष्य १।४९ योगसूत्र)।

वैशेषिक-दर्शन और न्याय-दर्शन समानतंत्र कहलाते हैं क्योंकि दोनों में सिद्धान्त की अत्यधिक समता है। दोनों का साहित्य भी समान रूप से ही चलता है। जो लोग न्याय के विद्वान् हैं वे वैशेषिक के भी हैं। एक का भी नाम लेना होता है तो न्याय-वैशेषिक ही कहते हैं। फिर भी वैशेषिक साहित्य की विपुलता अपना स्वतंत्र स्थान रखती है।

ततोऽनुकुर्याद्विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य ॥

(कु० १।४४)

इसी तरह शिशुपाल वध में कृष्ण के वक्षःस्थल का वर्णन—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥

(शि० व० ३।८)

इस दर्शन का आरंभ **कणाद** से वैशेषिक सूत्रों से होता है जिसमें १० अध्याय (प्रत्येक के दो-दो आह्निक) और ३७० सूत्र हैं। इस पर **प्रशस्तपाद** का तथाकथित भाष्य है जो एक स्वतंत्र ग्रन्थ ही है। इसे **पदार्थधर्मसंग्रह** भी कहते हैं। वैशेषिक सिद्धान्तों की स्पष्टतर विवेचना होने के कारण इस ग्रन्थ का बहुत अधिक प्रचार हुआ। इसका वही स्थान है जो पाणिनि व्याकरण में सिद्धान्त-कौमुदी का या सांख्य दर्शन में सांख्यकारिका का। बाद की सारी टीकायें इसी पर लिखी गईं (प्रशस्तपाद का समय ४५० ई० है)। इसकी टीकाओं में **व्योमशिवाचार्य** (९८०) की **व्योमवती**, **उदयनाचार्य** (९८४) की **किरणावली**, **श्रीधर** की **न्यायकन्दली**, **श्रीवत्स** (१०२५) की **लीलावती** मुख्य हैं। इन टीकाओं पर भी एकाधिक टीकायें हैं।

कणाद के सूत्रों पर एक रावणभाष्य भी मिलता है किन्तु सबसे प्रौढ टीका है **शंकरमिश्र** की। शंकर (१४२५) मिथिला के बहुत बड़े विद्वान् तथा सुप्रसिद्ध भवनाथ मिश्र (अयाची मिश्र) के पुत्र थे। इनका निवासस्थान सरिसव (दरभंगा) में था। इन्होंने कणादसूत्र पर **उपस्कार**-टीका, प्रशस्तपाद-भाष्य पर **कणादरहस्य**-टीका, आमोद (न्याय-कुसुमांजलि की टीका), कल्पलता (आत्मतत्त्वविवेक की टीका), आनन्दवर्धन (खण्डनखण्डखाद्य की टीका), भेदरत्नप्रकाश (श्रीहर्ष के खण्डनखण्डखाद्य का खण्डन करने वाला ग्रन्थ) इत्यादि अनेक ग्रन्थ लिखे। इसके अतिरिक्त भरद्वाज, जयनारायण, नागेश (१७१४) तथा चन्द्रकान्त (१८८०) ने कणादसूत्र की वृत्तियाँ भी लिखीं।

वैशेषिक-दर्शन पर स्वतंत्र ग्रंथों में ज्ञानचन्द्र (६००) की **दशपदार्थी**, उदयन की **लक्षणावली**, **शिवादित्य** (१०५०) की **सप्तपदार्थी**, **वल्लभन्यायाचार्य** (११५०) की **न्यायलीलावती** तथा **लौगाक्षिभास्कर** (१३२५) की तर्ककौमुदी हैं। इन पर कई टीकायें अन्य आचार्यों की हैं।

प्रसिद्धि की दृष्टि से **विश्वनाथ न्यायपञ्चानन** का **भाषा-परिच्छेद** तथा **अन्नंभट्ट** का **तर्कसंग्रह** अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। भाषा-परिच्छेद पर लेखक (१६३४) की ही टीका **न्यायसिद्धांतमुक्तावली** है जिस पर रुद्र, दिनकर, त्रिलोचन आदि आचार्यों की टीकायें हैं। रामरुद्र ने तो दिनकरी पर भी टीका लिखी है। अन्नंभट्ट (१६९०) ने अपने तर्कसंग्रह पर स्वयं दीपिका टीका लिखी जिस पर नीलकंठ की प्रकाश-टीका और उस पर भी लक्ष्मीनृसिंह की भास्करोदया टीका है! तर्कसंग्रह पर बहुत-सी दूसरी टीकायें भी हैं जिनका उल्लेख करना यहाँ अभीष्ट नहीं। तर्कसंग्रह न्यायवैशेषिक के अध्ययन का प्रथम सोपान है। इसकी शैली अत्यन्त सुबोध, सरल और संक्षिप्त है। इस प्रकार वैशेषिक-दर्शन के प्रमुख ग्रन्थों का उल्लेख करने से इसकी 'विशेषता' प्रकट होती है।

परमेश्वरसाक्षात्कारश्च श्रवणमननभावनाभिर्भावनीयः । यदाह-

२. आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासबलेन च ।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम् ॥ इति ।

तत्र मननमनुमानाधीनम् । अनुमानं च व्याप्तिज्ञानाधीनम् । व्याप्तिज्ञानं च पदार्थविवेकसापेक्षम् । अतः पदार्थषट्कम् 'अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः' (वै० सू० १।१।१) इत्यादिकायां दशलक्षण्यां कणभक्षेण भगवता व्यवस्थापितम् ।

परमेश्वर का साक्षात्कार (ज्ञान), श्रवण (शास्त्र का), मनन (चिन्तन) तथा भावना (अन्तःकरण में ध्यान करना, निदिध्यासन, Meditation) के द्वारा पाया जा सकता है । जैसा कि कहा गया है—'आगम से, अनुमान से तथा ध्यानाभ्यास के बल से—इस प्रकार तीन तरह से अपनी बुद्धि को परमेश्वर के विषय में लगाकर साधक उत्तम योग प्राप्त करता है ।' [आगम और श्रवण समानार्थक (अनर्थान्तर) हैं । गुरु के पास से परमेश्वर के स्वरूप तथा उसके गुणों के विषय में श्रवण करना परमेश्वर-ज्ञान का प्रथम सोपान है । इस श्रवण में आप्त (प्रामाणिक) वाक्य या आगम की आवश्यकता पड़ती है इसलिए इसे **आगम** भी कहते हैं । जो बात सुन चुके हैं उनमें दृढ़ता लाने या अच्छी तरह उनपर विश्वास करने के लिए अनुमान के नियमों के अनुसार युक्तिपूर्वक चिन्तन करना भी आवश्यक ही है । यही चिन्तन मनन कहलाता है । चूँकि इसमें अनुमान का सहारा लेना पड़ता है । इसलिए इसे **अनुमान** भी कह देते हैं । श्रवण और मनन के पश्चात् उस अर्थ का बार-बार ध्यान करना चाहिए । ऐसा करने से वह बात हृदय में बैठ जाती है । यही **भावना** है । जिस मार्ग से सामान्यपदार्थ का श्रवणादि होता है उसी मार्ग से ईश्वर के विषय का भी । जब बुद्धि ईश्वरविषयिणी हो जाती है उसी समय उत्तम योग अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार प्राप्त होता है ।]

[अब इन तीनों उपायों में] मनन अनुमान पर निर्भर करता है और स्वयम् अनुमान व्याप्ति (Universal relation) के ज्ञान पर । व्याप्ति का ज्ञान भी पदार्थों की पारस्परिक विवेचना (Discussion) की अपेक्षा रखता है । यही कारण है कि छह पदार्थों की व्यवस्था भगवान् कणाद ने दस लक्षणों (अध्यायों) से युक्त [अपने वैशेषिकदर्शन में] की है जिस (दर्शन) का आरम्भ-सूत्र है—अब इसलिए (हम) धर्म की व्याख्या करेंगे (वैशेषिक सूत्र १।१।१) ।

विशेष—श्वेताश्वतर उपनिषद् में एक वाक्य आया है—'तमेवं विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (३।८) अर्थात् उस परमेश्वर को इस रूप में जानकर लोग मृत्यु (दुःख) के बन्धन से छूट जाते हैं, कोई दूसरा मार्ग इससे निकलने का नहीं है। इस श्रुति को ही आधार मानकर वैशेषिक लोग परमेश्वर-साक्षात्कार को ही एकमात्र उपाय बतलाते हैं जिससे मृत्यु से निकल जा सकते हैं। इस साक्षात्कार (Knowledge) के लिए तीन परस्पर क्रमबद्ध उपाय हैं—श्रवण, मनन और भावना। प्रस्तुत दर्शन का सम्बन्ध न तो श्रवण से है न भावना से। मनन और विशेषतया उसकी पद्धति का निरूपण करना ही न्याय-वैशेषिक का लक्षण है। मनन के लिए अनुमान और अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान आवश्यक है। व्याप्तिज्ञान के लिए पदार्थों का विवेचन महर्षि कणाद करते हैं। न्याय में मनन की पद्धति—अनुमान—का विशद विचार होता है जब कि वैशेषिक-दर्शन में उस अनुमान की सफलता के लिये पदार्थों का विश्लेषण किया जाता है। दोनों इस दृष्टि से एक दूसरे की सहायता करते हैं। इन दर्शनों के द्वारा ईश्वर की उपासना ही होती है क्योंकि इनकी सारी चर्चायें मनन के अन्तर्गत आती हैं। उदयनाचार्य अपनी न्यायकुसुमाञ्जलि (१।१३) में कहते हैं—

न्यायचर्चेयमीशस्य मननव्यपदेशभाक्।
उपासनैव क्रियते श्रवणानन्तरागता॥

अर्थात् 'मनन' (Thought) शब्द से अभिहित यह न्यायचर्चा श्रवण के अनन्तर आती है तथा इससे ईश्वर की उपासना ही होती है। यहाँ न्यायचर्चा का अर्थ है अनुमान क्योंकि वही न्याय में विशेष रूप से चर्चित होता है।

कणाद ने अपने सूत्रों में केवल छह पदार्थों का निरूपण किया है। वे हैं—द्रव्य (Substance), गुण (Quality), कर्म (Action), सामान्य (Generality), विशेष (Particularity) और समवाय (Inherence)। प्रशस्तपाद में अभाव (Non-existence) को भी सप्तम पदार्थ (Category) के रूप में स्वीकार किया गया है। तबसे पदार्थ सात माने गये हैं। भावात्मक (Positive) पदार्थ छह ही हैं। इसकी संख्या पर आगे मूल में ही विचार करेंगे। कणाद के दस अध्यायों वाले सूत्र-ग्रन्थ को 'दशलक्षणी' (= दशाध्यायी) कहा गया है। कणाद के पास कुछ ऐसे शिष्य आये जो विधिवत् वेद-वेदाङ्ग का अध्ययन कर चुके थे, असूया (दोषान्वेषण की प्रवृत्ति) से शून्य थे और इस प्रकार 'श्रवण' कर चुके थे। मनन के लिए आये हुए इन शिष्यों पर परम कारुणिक भगवान् कणाद प्रसन्न हो गये और उन्होंने वैशेषिक-

दर्शन की रचना की। उसका प्रथम सूत्र यही है—**अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः।** इस सूत्र में 'अथ' शब्द के द्वारा मंगल या आनन्तर्य (Subsequence) का बोध होता है अर्थात् शिष्यों की जिज्ञासा के पश्चात्। अतः = इसलिए। चूँकि श्रवणादि में निपुण, असूया रहित शिष्य लोग आये हैं इसलिए ज्ञान की पराकाष्ठा के रूप में जो धर्म है उसकी व्याख्या अब करेंगे। धर्म का लक्षण दूसरे ही सूत्र में दिया गया है—**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः** (१।१।२)। जिससे अभ्युदय (स्वर्ग, तत्त्वज्ञान, लौकिक उन्नति) तथा निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति हो वही धर्म है। यहाँ 'धर्म' शब्द अपने शास्त्रीय विषय के अर्थ में लिया गया है।

अब कणाद-सूत्रों की विषय-वस्तु पर विचार आरम्भ होता है।

(२. वैशेषिक-सूत्र की विषय-वस्तु)

तत्राह्निकद्वयात्मके प्रथमेऽध्याये समवेताशेषपदार्थकथनमकारि। तत्रापि प्रथमाह्निके जातिमन्निरूपणम्। द्वितीयाह्निके जातिविशेषयोर्निरूपणम्।

आह्निकद्वययुक्ते द्वितीयेऽध्याये द्रव्यनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमेऽध्याये भूतविशेषलक्षणम्। द्वितीये दिक्कालप्रतिपादनम्।

आह्निकद्वययुक्ते तृतीय आत्मान्तःकरणलक्षणम्। तत्राप्यात्मलक्षणं प्रथमे। द्वितीयेऽन्तःकरणलक्षणम्। आह्निकद्वययुक्ते चतुर्थे शरीरतदुपयोगिविवेचनम्। तत्रापि प्रथमे तदुपयोगिविवेचनम्। द्वितीये शरीरविवेचनम्।

प्रथम अध्याय में, जिसमें दो आह्निक (एक दिन का पाठ = आह्निक) हैं, उन सभी पदार्थों का वर्णन है जो समवेत अर्थात् समवाय-सम्बन्ध से युक्त हैं। [समवाय-सम्बन्ध का अर्थ है नित्य-सम्बन्ध, जो कभी भिन्न न हो। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और विशेष—इतने पदार्थों का समवाय-सम्बन्ध होता है। द्रव्य अपने अवयवों में समवेत रहता है, गुणों और कर्मों का समवाय-सम्बन्ध द्रव्य के साथ रहता है, क्योंकि गुण और कर्म से युक्त होना द्रव्य-सामान्य का लक्षण ही है। सामान्य तो जाति को ही कहते हैं, जिसका समवाय-सम्बन्ध उपर्युक्त तीनों से है। विशेष नित्य द्रव्यों में समवेत रहते हैं। अवयवहीन परमाणुओं को तथा आकाश आदि को भी यद्यपि समवेत नहीं कह सकते हैं किन्तु नित्य द्रव्यों के साथ उनका समवाय-सम्बन्ध होता है। इसी अर्थ में वे समवेत हैं। षष्ठ पदार्थ समवाय

समवेत नहीं होता है क्योंकि यदि उसे समवेत मानें तो किसी में समवेत होगा। उसका किसी के साथ समवाय होगा—फिर उसका भी दूसरा समवाय होगा। ऐसा करते-करते कहीं अन्त नहीं होगा, अनवस्था हो जायगी। इसलिए प्रथम पाँच पदार्थ ही समवेत होते हैं।]

उसमें भी प्रथम आह्निक में उन पदार्थों का निरूपण हुआ है जिनकी जाति (सामान्य, Class) होती है (अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म का)। द्वितीय आह्निक में सामान्य (जाति) और विशेष का निरूपण किया गया है।

दो आह्निकों वाले द्वितीय अध्याय में द्रव्य का निरूपण हुआ है जिसमें प्रथम आह्निक में भूतों (क्षिति, जल, अग्नि, वायु, आकाश) के लक्षण हैं और दूसरे में दिशा तथा काल का निरूपण है। [स्मरणीय है कि द्रव्य नव हैं—पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, दिशा, काल, आत्मा और मन। इनमें प्रथम सात का वर्णन द्वितीय अध्याय में ही हो गया है।]

तृतीय अध्याय में जिसमें दो आह्निक हैं, आत्मा और अन्तःकरण (आन्तरिक इन्द्रिय = मन) के लक्षण हैं। इनमें भी प्रथम आह्निक में आत्मा का लक्षण है, द्वितीय में अन्तःकरण का। [इस प्रकार द्रव्यों की विवेचना समाप्त होती है।] दो आह्निकों वाले चतुर्थ अध्याय में शरीर और उसके उपयोगी तत्त्वों (Adjuncts, जैसे—परमाणुकारणता आदि) का वर्णन है। प्रथम आह्निक में शरीर के उपयोगियों का ही वर्णन है और दूसरे आह्निक में शरीर का विवेचन है।

आह्निकद्वयवति पञ्चमे कर्मप्रतिपादनम्। तत्रापि प्रथमे शरीरसंबन्धिकर्मचिन्तनम्। द्वितीये मानसकर्मचिन्तनम्। आह्निकद्वयशालिनि षष्ठे श्रौतधर्मनिरूपणम्। तत्रापि प्रथमे दानप्रतिग्रहधर्मविवेकः। द्वितीये चातुराश्रम्योचितधर्मनिरूपणम्।

दो आह्निकों वाले पंचम अध्याय में कर्म का प्रतिपादन हुआ है। इसमें प्रथम आह्निक में शरीर से निष्पन्न होने वाले कर्मों का विचार हुआ है, दूसरे आह्निक में मानसिक कर्मों का चिन्तन (विचार) किया गया है। दो ही आह्निकों से विभूषित षष्ठ अध्याय में श्रुतियों में प्रतिपादित धर्म का निरूपण किया गया है। जिसमें प्रथम आह्निक में दान (दान करना) और प्रतिग्रह (दान लेना)—इन दो धर्मों पर विचार किया गया है। द्वितीय आह्निक में चारों आश्रमों के लिए उचित धर्म का निरूपण हुआ है।

तथाविधे सप्तमे गुणसमवायप्रतिपादनम्। तत्रापि प्रथमे बुद्धिनिरपेक्षगुणप्रतिपादनम्। द्वितीये तत्सापेक्षगुणप्रतिपादनं समवायप्रतिपादनं च।

अष्टमे निर्विकल्पकसविकल्पकप्रत्यक्षप्रमाणचिन्तनम्। नवमे बुद्धिविशेषप्रतिपादनम्। दशमेऽनुमानभेदप्रतिपादनम्।

उसी प्रकार के विभाजनवाले सप्तम अध्याय में गुणों और समवाय का प्रतिपादन हुआ है जिसमें प्रथम आह्निक में उन गुणों का प्रतिपादन हुआ है जो बुद्धि की अपेक्षा नहीं रखते (रूप, रस, गंध आदि)। द्वितीय आह्निक में बुद्धि की अपेक्षा रखने वाले गुणों (द्वित्व, परत्व, अपरत्व, पृथक्त्व आदि) का तथा इसीमें सामान्य का भी प्रतिपादन हुआ है। [द्वित्व, एकत्व, बहुत्व आदि को संख्या कहते हैं, वह भी बुद्धि पर निर्भर करती है। इसका विशद विचार आगे करेंगे।]

अष्टम अध्याय में निर्विकल्पक (Indeterminate) तथा सविकल्पक (Determinate) प्रत्यक्ष प्रमाण का निरूपण हुआ है। नवम अध्याय में बुद्धि के विशेषों (भेदों) का वर्णन है। दशम अध्याय में अनुमान के भेदों का वर्णन है। [यह आश्चर्य है कि नवम और दशम अध्यायों के विषय में माधवाचार्य इतने भ्रम में हैं। वास्तव में नवम अध्याय में अतीन्द्रिय संयोगादि से होने वाले प्रत्यक्ष का तथा अनुमान का वर्णन है। दशम में सुख-दुःखादि आत्मा के गुणों का वर्णन एवं त्रिविध कारण का भी प्रतिपादन हुआ है। माधव के भ्रम का कारण समझ में नहीं आता!]

(३. शास्त्र की प्रवृत्ति—उद्देश, लक्षण, परीक्षा)

तत्रोद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति त्रिविधास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिः (वात्स्यायन० १।१।१)। ननु विभागापेक्षया चातुर्विध्ये वक्तव्ये कथं त्रैविध्यमुक्तमिति चेत्—मैवं मंस्थाः। विभागस्य विशेषोद्देशरूपत्वात् उद्देश एवान्तर्भावात्। तत्र द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवाया इति षडेव ते पदार्था इत्युद्देशः।

[वात्स्यायन का कहना है कि] इस शास्त्र (न्याय-वैशेषिक) की प्रवृत्ति (प्रतिपादन) तीन प्रकार से होती है—उद्देश (Enumeration, गणना) लक्षण (Definition) और परीक्षा (लक्षणों का आरोपण, Exami-

nation)। [वस्तु का केवल नाम ले लेना या गिना देना ही उद्देश कहलाता है जैसे यह कहना कि द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, ये छह पदार्थ हैं। लक्षण में वस्तु के उस धर्म का उल्लेख करते हैं जिसके द्वारा वह वस्तु अन्य सजातीय वस्तुओं से पृथक् की जाय जैसे—द्रव्य उसे कहते हैं जिसमें गुण हों। परीक्षा के द्वारा यह विचार होता है कि उक्त प्रकार से दिये गये लक्षण प्रस्तुत वस्तु में ठीक हैं कि नहीं। न्याय-वैशेषिक के प्रतिपादन की एक अपनी विशेषता है कि इन तीन विधियों से शास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया जाता है। उसमें भी परीक्षा पर बहुत जोर दिया जाता है जिसके कारण ये दर्शन अत्यन्त तार्किक माने जाते हैं। यही नहीं, अन्य शास्त्रों पर भी जब विपत्ति आती है तब वे अपनी सुरक्षा के लिए तर्क-शास्त्र का ही आश्रय लेते हैं और पूर्वपक्षियों की खबर इसी परीक्षा के द्वारा लेते हैं।]

[अब प्रश्न यह है कि इन तीन विधियों के अतिरिक्त इनमें] विभाग को भी रखकर चार प्रकार की शास्त्रप्रवृत्ति का वर्णन करना उचित था, आप तीन ही प्रकार की प्रवृत्तियाँ क्यों मानते हैं? ऐसा न समझें क्योंकि विभाग भी एक तरह का उद्देश ही तो है। [जब वस्तुओं का नाम-ग्रहण करते हैं तब विभाजन या वर्गीकरण (Classification) करके ही तो नाम लेते हैं, यों ही मनमाने ढंग से तो नहीं।]* इसलिए विभाग को उद्देश के अन्दर ही रख लेते हैं। वैशेषिक-दर्शन में उद्देश यही है—'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय, इस प्रकार ये छह ही पदार्थ हैं।'

किमत्र क्रमनियमे कारणम्? उच्यते। समस्तपदार्थायतनत्वेन प्रधानस्य द्रव्यस्य प्रथममुद्देशः। अनन्तरं गुणत्वोपाधिना सकलद्रव्यवृत्तेर्गुणस्य। तदनु सामान्यवत्त्वसाम्यात्कर्मणः। पश्चात्तत्त्रितयाश्रितस्य सामान्यस्य। तदनन्तरं समवायाधिकरणस्य विशेषस्य। अन्तेऽवशिष्टस्य समवायस्येति।

यहाँ पदार्थों की गणना कराते समय एक विशेष क्रम देखते हैं उसका क्या कारण है? कहते हैं—सारे पदार्थों का आधार होने के कारण प्रमुख रूप से

* उद्देश दो प्रकार का है—सामान्य जैसे, द्रव्य गुण कर्मादि पदार्थों की गणना तथा विशेष जैसे, पृथ्वी, जल, तेज आदि द्रव्य के भेदों की गणना। गुणों की गणना कराते समय 'विभाग' नाम आता है इसलिए विशेष उद्देश (अवान्तर भेद के अन्तर्गत) होने से विभाग को पृथक् नहीं लेते। उद्देश में ही इसे समझ लेते हैं।

विद्यमान द्रव्य का उद्देश (नामग्रहण) पहले हुआ है। [नींव का ज्ञान पहले करके तब भवन का निर्माण होता है, मनुष्य को जानने पर ही उसके धर्मों का, जैसे स्थूलता आदि का, ज्ञान प्राप्त करते हैं। धर्म का ज्ञान पीछे होता है, धर्मी का पहले। इसी प्रकार सभी पदार्थों का साक्षात् या परंपरा से आधार द्रव्य ही है। गुण और कर्म का तो वह साक्षात् आधार है। द्रव्यत्व, पृथिवीत्व, घटत्व आदि के रूप में जो सामान्य है उसका भी वह सीधा आधार है। हाँ, गुण और कर्म की जाति (सामान्य) अर्थात् गुणत्व और कर्मत्व आदि के लिए उसे (द्रव्य को) गुण-कर्म का सहारा लेना पड़ता है—गुणत्व और कर्मत्व क्रमशः गुण और कर्म में हैं और द्रव्य इन दोनों का आधार है। विशेषों का भी साक्षात् आधार द्रव्य ही है। समवाय का कहीं तो वह साक्षात् आधार होता है कहीं गुणादि के द्वारा। तात्पर्य यह है कि द्रव्य या तो सभी पदार्थों का साक्षात् आधार है या परंपरा से आधार है। प्रमुख होने के कारण द्रव्य को पहले रखते हैं।]

इसके बाद गुणत्व उपाधि के रूप में सभी द्रव्यों में पाये जानेवाले **गुण** का नाम है। [गुण का अर्थ अप्रधान होता है इसलिए द्रव्य की अपेक्षा अप्रधान रूप से विद्यमान रहनेवाले गुणों को द्रव्य के बाद रखते हैं। यद्यपि गुण, कर्म आदि पाँचों पदार्थों को समान रूप से अप्रधान (गुण) कहा जा सकता है किन्तु वैशेषिक लोग रूप, रस आदि को ही सांकेतिक रूप से गुण कहते हैं। गुण का सामान्य अर्थ बहुत व्यापक होने पर भी शास्त्रीय-दृष्टि से एक विशेष पदार्थ को ही गुण कहते हैं जो सभी द्रव्यों में रहता है। इसका यह अर्थ कभी नहीं समझना चाहिए कि सभी द्रव्यों में सभी गुण रहते हैं—पृथ्वी में रूप, रस आदि नहीं है, न बुद्धि ही है। किन्तु कोई-न-कोई गुण सभी द्रव्यों में रहता ही है। यह सौभाग्य अन्य पदार्थों को नहीं। यही कारण है कि द्रव्य के पश्चात् और अन्य पदार्थों के पहले गुण का नाम लिया जाता है।]

इसके बाद **कर्म** का उद्देश होता है क्योंकि [द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में) सामान्य की सत्ता रहती है, यही समानता है। [द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में जाति (Class) रहती है। इसलिए तीनों को एक साथ ही रखना चाहिए। द्रव्य, गुण अपने विशिष्ट कारणों से पहले आ चुके हैं। अवशिष्ट कर्म ही है इसलिए गुण के बाद उसे रखते हैं। इसके अतिरिक्त यह ध्येय है कि गुण, कर्म के बीच गुण को प्रधानता मिलती है क्योंकि गुणों की पहुँच (वृत्ति) सभी द्रव्यों तक रहती है, कर्म बेचारे कुछ ही द्रव्यों तक पहुँच पाते हैं—आकाश, काल, दिशा, आत्मा इन विभु द्रव्यों में कर्म पहुँच नहीं सकते। गुणों की

अपेक्षा कर्म द्रव्य के पास पैरवी पहुँचाने में पिछड़ जाते हैं इसलिए गुणों के उपरान्त ही इनका स्थान होता है।]

इसके बाद इन तीनों में आश्रय लेनेवाले **सामान्य** या जाति का उद्देश होता है। [ऊपर कह चुके हैं कि आधार के बाद ही आधेय पदार्थ आते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म तीनों ही सामान्य के लिए आधार हैं। इसलिए वे सामान्य की अपेक्षा प्रधान हैं। दूसरों के भरोसे जीनेवाला पहले नहीं रह सकता। पहले उसके आश्रयदाता का नाम रहेगा—तभी उसका नाम रहेगा। यही कारण है कि सामान्य इन तीनों के अन्त में आता है।]

इसके अनन्तर समवाय के आधार के रूप में अवस्थित **विशेष** का नाम लेते हैं और अन्त में बचे हुए **समवाय** का नाम आता है—यही क्रम है। [विशेष और समवाय को सबसे पीछे डालने का यह कारण है कि इनका प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। प्रत्यक्ष होनेवाले पदार्थों से अप्रत्यक्ष पदार्थ पीछे रहेंगे ही। अब ये दोनों निर्णय करें कि कौन पहले रहेगा, कौन पीछे ? फिर आधार-आधेय का संबंध हो गया। समवाय आधेय है, विशेष आधार। आधार पहले होता है, आधेय पीछे। बस, विशेष के बाद समवाय का नाम है।]

(४. पदार्थों की संख्या—छह या सात ?)

ननु षडेव पदार्था इति कथं कथ्यते ? अभावस्यापि सद्भावात् इति चेत्—मैवं वोचः। नञर्थानुल्लिखितधीविषयतया भावरूपतया षडेवेति विवक्षितत्वात्। तथापि कथं षडेवेति नियम उपपद्यते ? विकल्पानुपपत्तेः। नियमव्यवच्छेद्यं प्रमितं न वा ? प्रमितत्वे कथं निषेधः ? अप्रमितत्वे कथंतराम् ?

अब यह प्रश्न है कि आप कैसे कहते हैं कि पदार्थ छह ही हैं ? अभाव की भी तो सत्ता है [जिसे सातवाँ पदार्थ मानते हैं]। इस प्रश्न पर हम कहेंगे कि ऐसा मत कहो। निषेधात्मक (नञर्थ के द्वारा उल्लिखित या बोधित) प्रतीति (ज्ञान, धी, प्रत्यय, Knowledge) को हम अपना विषय नहीं मानते तथा भाव-रूप (भावात्मक Positive) [प्रतीति को ही हम विषय] मानते हैं इसलिए हमारी विवक्षा (कहने की इच्छा) से ही छह पदार्थ माने गये हैं। [नञर्थ के रूप में निषेध को समझ लेने के लिए अभाव भी एक पृथक् पदार्थ रहे, इसमें हमें कोई आपत्ति नहीं। किन्तु इस अभाव के द्वारा किसी वस्तु की असत्ता का ही तो बोध होगा, सत्ता का तो नहीं। हम सत्ता का विश्लेषण करना चाहते

हैं इसलिए अभाव नहीं स्वीकार करके छह ही पदार्थ मानते हैं जो सब के सब भावात्मक हैं।]

फिर भी प्रश्न हो सकता है कि यह नियम आप कहाँ से लाते हैं कि पदार्थ केवल छह ही हैं। [इसकी सिद्धि के लिए दिये गये] दोनों विकल्प असिद्ध हो जायँगे। देखिए—इस नियम से [कि पदार्थ छह ही हैं] व्यावृत्त किया जाने वाला (being excluded) [सप्तम पदार्थ] प्रमाणों से सिद्ध है कि नहीं ? [तात्पर्य यह है कि जब आप 'छह ही' में 'ही' का प्रयोग करते हैं तब अवश्य किसी आगामी पदार्थ को निकाल बाहर (व्यावृत्त) करते हैं, यह बहिष्करण जिसका हो रहा है उसकी सिद्धि के लिए कोई प्रमाण है या नहीं। या तो सप्तम पदार्थ प्रमाणसिद्ध होगा या असिद्ध। दोनों ही अवस्थाओं में आप पकड़े जाते हैं।]

यदि वह (सप्तम पदार्थ) प्रमाणों से सिद्ध है तब उसका निषेध क्यों कर रहे हैं ? [प्रमाण से सिद्ध पदार्थ तो सदा स्वीकार्य है, उसका निषेध नहीं हो सकता।] यदि प्रमाणों से उसकी सिद्धि नहीं हो रही हो तब तो निषेध करना और भी कठिन है। [असिद्ध या असत् वस्तु का निषेध करने में अपना समय कौन मूर्ख नष्ट करेगा ?]

न हि कश्चित्प्रेक्षावान्मूषिकविषाणं प्रतिषेद्धुं यतते। ततश्चानुपपत्तेर्न नियम इति चेत्—मैवं भाषिष्ठाः। सप्तमतया प्रमितेऽन्धकारादौ भावत्वस्य, भावतया प्रमिते शक्तिसादृश्यादौ सप्तमत्वस्य च निषेधादिति कृतं विस्तरेण।

कोई भी ऐसा विचारशील व्यक्ति नहीं होगा जो चूहे की सींग (असिद्ध वस्तु) का निषेध करने में अपने सारे पाण्डित्य का खर्च करे। [मूषिक-विषाण प्रत्यक्ष-प्रमाण से ही असिद्ध है दूसरों की तो बात ही क्या ? इसलिए असिद्ध वस्तु का निषेध करना मूर्खता नहीं तो और क्या है ?] इस प्रकार दोनों विकल्पों की असिद्धि के कारण 'छह ही' पदार्थ होने का नियम आप नहीं लगा सकते।

[इस प्रश्न का उत्तर यह होगा—] ऐसा नहीं कहना चाहिए। यदि आप लोग अन्धकार या किसी ऐसी ही अभावात्मक चीज में सप्तम पदार्थ की कल्पना करते हैं तब तो हम अपने भावात्मक पदार्थों में इसे ले ही नहीं सकते [क्योंकि भावात्मक पदार्थ में अन्धकार नहीं आ सकता, वह निषेधात्मक है। और हम केवल भावपदार्थों को ही स्वीकार कर रहे हैं]। यदि दूसरी ओर आप लोग भाव के रूप में सिद्ध शक्ति, सादृश्य आदि को ही सप्तम पदार्थ मानते हैं तो यह सप्तम पदार्थ नहीं, [वास्तव में हमारे भावात्मक पदार्थों में ही उसकी सत्ता है।] अधिक विस्तार करना व्यर्थ है।

विशेष—पदार्थों की संख्या छह मानने का कारण वे यह बतलाते हैं कि भावात्मक पदार्थ छह ही होंगे। यदि किसी अभावात्मक वस्तु को सातवाँ पदार्थ मानते हैं तो भाव का प्रतियोगी होने के कारण हमारी परिभाषा (भावरूप पदार्थ) में वह पदार्थ नहीं होगा, यदि किसी भावात्मक वस्तु को ही सातवाँ पदार्थ मानते हैं तब तो वह हमारे भावात्मक पदार्थों के बीच ही कहीं-न-कहीं स्थान पा सकेगा। हमारा वर्गीकरण इतना व्यापक (exhaustive) है कि सभी भाव इसमें आ जायँगे, फिर सप्तम पदार्थ की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। किसी प्रकार छह से अधिक भाव-पदार्थ नहीं होंगे।

'षडेव' (छह ही) कहने से न केवल सप्तम पदार्थ का निषेध होता है, न केवल भाव का, प्रत्युत सप्तमत्व से विशिष्ट भाव का निषेध होता है। दूसरे शब्दों में यह कहें कि सातवाँ भाव पदार्थ ही नहीं है। केवल सप्तम पदार्थ तो अन्धकार आदि हैं ही, पर ये भाव तो नहीं हैं। अन्धकार का अर्थ है तेज का अभाव। शक्ति और सादृश्य यद्यपि भाव हैं, पर ये केवल भाव हैं, सातवें नहीं है। छह में ही इन्हें स्थान मिलता है। शक्ति के विषय में लोग प्रश्न करते हैं कि जब हथेली पर दाहशक्ति को रोकने वाले मणि आदि पदार्थ रखे रहते हैं तब अग्नि का संयोग होने पर भी हाथ नहीं जलता। यदि खाली हाथ रहे तो जल जाय। इस नियम से लगता है कि शक्ति भी कोई अतिरिक्त पदार्थ है। किन्तु ऐसी बात नहीं है। अग्नि का दाह-कारण होना ही शक्ति है (अग्नेर्दाहं प्रति कारणतैव शक्तिः)। प्रतिबन्धक का अभाव तो सभी कार्यों में कारण रहता है जिसे पाश्चात्य तर्कशास्त्र में Negative Condition कहते हैं इसलिए अग्नि में ही शक्ति है अतिरिक्त तो कुछ नहीं। आधुनिक विज्ञान में शक्ति को एक पृथक् पदार्थ मानते हैं। सादृश्य भी भिन्न पदार्थ नहीं है इसका अर्थ है—किसी पदार्थ से भिन्न रहने पर उसमें वर्तमान धर्मों को धारण करना (तद्भिन्नत्वे सति तद्गतधर्मवत्त्वम्)। वैशेषिक लोग भाव पदार्थों का विचार करते समय इन वस्तुओं को कभी नहीं भूलते।

(५. छह पदार्थों के लक्षण—द्रव्यत्व और गुणत्व)

तत्र द्रव्यादित्रितयस्य द्रव्यत्वादिजातिर्लक्षणम्। द्रव्यत्वं नाम गगनारविन्दसमवेतत्वे सति, नित्यत्वे सति, गन्धासमवेतत्वम्। गुणत्वं नाम समवायिकारणासमवेतासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः।

उनमें द्रव्य आदि प्रथम तीन पदार्थों के लक्षण हैं द्रव्यत्व आदि के सामान्य (जाति) से युक्त होना। [द्रव्य उसे कहते हैं जो द्रव्यत्व-जाति का हो, गुण गुणत्व-जाति का होता है तथा कर्म कर्मत्व-जाति का। इस प्रकार अपने-अपने सामान्य के द्वारा ये लक्षित होते हैं। अब इनके सामान्यों के लक्षण पृथक्-पृथक् नैयायिक-भाषा में दिये जायँगे जिसमें प्रत्येक शब्द और विशेषण साभिप्राय रहेगा, उसके अभाव में लक्षण के अशुद्ध हो जाने की संभावना है।]

द्रव्यत्व का लक्षण—जब आकाश के साथ तथा अरविन्द के साथ अलग-अलग कोई पदार्थ समवेत हो, वह नित्य भी हो तथा गन्ध के साथ समवेत (नित्यरूप से सम्बद्ध, inherent) न हो तो उसे ही द्रव्य-सामान्य कहते हैं।

[अब इस लक्षण की व्याख्या करें। द्रव्य-सामान्य (द्रव्यत्व) से द्रव्य का लक्षण किया जाता है। इसलिए इस द्रव्य-सामान्य को समझना आवश्यक है। द्रव्य-सामान्य के लक्षण में तीन टुकड़े हैं—(१) गगन तथा अरविन्द के साथ समवेत होना, (२) नित्य होना तथा (३) गन्ध के साथ समवेत न होना। गगनारविन्द को वेदान्तियों के समान आकाश का कमल न समझें। यहाँ द्वन्द्व-समास है। द्वन्द्व होने के कारण 'समवेत' शब्द का सबन्ध दोनों पदों के साथ होगा। (द्वन्द्वादौ द्वन्द्वमध्ये द्वन्द्वान्ते च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसंबध्यते)। द्रव्य का समवाय (अपरिहार्य, नित्य) सबन्ध गगन-जैसे नित्य द्रव्य से तथा कमल जैसे क्षणिक द्रव्य के साथ भी है, भले ही सम्बन्ध नित्य है। आकाश तो द्रव्य में है ही, कमल की गणना पृथ्वी में होती है। समूह का सम्बन्ध अपने प्रत्येक व्यक्ति से रहता ही है। दूसरे, द्रव्य का सामान्य नित्य भी है क्योंकि जाति या सामान्य नित्य होता है। व्यक्ति के विनाश के बाद भी जाति की सत्ता रहती है। अन्त में, यह द्रव्य-सामान्य गन्ध से अ-समवेत रहता है क्योंकि गन्ध गुण है। द्रव्यत्व की वृत्ति गुणों में नहीं होती, द्रव्यों में ही होती है।

अब हम लक्षण के शब्दों की अनिवार्यता पर विचार करें। (१) यदि लक्षण से **'गगन से समवेत रहना'** यह विशेषण हटा दें तो पृथिवी-जाति (पृथिवीत्व) का भी लक्षण बन जायगा, केवल द्रव्यत्व का लक्षण नहीं रहेगा। दूसरे शब्दों में, पृथिवीत्व में इस लक्षण की अतिव्याप्ति हो जायगी। पृथिवी-सामान्य अरविन्द से समवेत होता है तथा नित्य भी होता है (सामान्य होने के कारण)। पुनः गन्ध का समानाधिकरण (पृथिवी-सामान्य) गन्ध में होगा ही नहीं जिससे यह गन्धासमवेत भी है। पृथिवी-सामान्य गगन से समवेत नहीं होता (जो हमने हटा ही दिया है), केवल पृथिवी में पृथिवीत्व की वृत्ति

रहती है। इसलिए 'पृथिवीत्व' का ही लक्षण हो गया। (२) यदि लक्षण से **'अरविन्द से समवेत रहना'** हटा दें तो यह गगन में वर्तमान एकत्व-संख्या का भी लक्षण हो जायगा। एकत्व-संख्या गगन से समवेत रहती है, नित्य भी है। एकत्व-संख्या नित्य द्रव्य में रहने पर नित्य है, अनित्य में रहने पर अनित्य होती है—यहाँ आकाशगत है इसलिए नित्य है। गन्ध से इसे कुछ लेना-देना है ही नहीं क्योंकि एक गुण में दूसरा गुण आ नहीं सकता। अरविन्द से भी यह समवेत नहीं होती। अरविन्द में भी एकत्व है पर वह एकत्व आकाश के एकत्व की अपेक्षा भिन्न है। इस प्रकार ऐसी स्थिति में एकत्व-संख्या का लक्षण हो गया। (३) यदि लक्षण से **'नित्य होने पर'** यह विशेषण निकाल दें तो गगन और अरविन्द दोनों में विद्यमान द्वित्वसंख्या का भी लक्षण बन जायगा। द्वित्व-संख्या गगन और अरविन्द दोनों में समवेत है, गुण होने के कारण दूसरे गुण गन्ध से इसका सम्बन्ध ही नहीं। हाँ, यह नित्य नहीं है। द्वित्व आदि संख्याएँ सर्वत्र अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती हैं इसलिए अनित्य हैं। (इसके विचार के लिए आगे देखें।) निदान, यह लक्षण द्वित्व-संख्या का हो गया। (४) अन्त में यदि लक्षण से **'गन्ध से समवेत न रहना'** यह विशेषण निकाल दें तो यह द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में अधिष्ठित सत्ता का भी लक्षण हो जायगा। सत्ता गगन और अरविन्द में तो है ही, नित्य भी है। लेकिन यह गुणों में भी है, अतः गन्ध से असमवेत नहीं हो सकती। लक्षण से वह पद निकल जाने पर इसकी प्राप्ति हो ही जायगी।

लक्षण ऐसा हो जो लक्ष्य से न तो अधिक को व्याप्त करे, न कम को। अधिक को व्याप्त करने पर अतिव्याप्ति-दोष (Too-wide definition) होता है, कम को व्याप्त करने पर अव्याप्ति-दोष (Fallacy of too-narrow definition) होता है। उपर्युक्त पदों को निकाल देने से लक्षण सदैव अपने लक्ष्य से अधिक को समेट लेता है—द्रव्यत्व के साथ-साथ कभी तो पृथिवीत्व का, कभी एकत्व का, कभी द्वित्व का और कभी सत्ता का भी लक्षण यह बन जाता है, अर्थात् अतिव्याप्ति-दोष हो जाता है। इससे बचने के लिए प्रत्येक पद रखना अनिवार्य है।]

गुणत्व का लक्षण—गुण-सामान्य उस जाति को कहते हैं जो [द्रव्य, गुण, कर्म में अधिष्ठित] सत्ता के द्वारा सीधे ही व्याप्त हो सके, समवायि-कारण (द्रव्य) से समवेत नहीं रहे तथा असमवायि-कारण से भिन्न किसी भी पदार्थ (जैसे—आत्मा के गुण) से समवेत हो।

[गुणत्व के लक्षण में भी तीन विशेषण हैं—(१) ऐसी जाति जो समवायि-कारण से समवेत न हो, (२) जो असमवायि-कारण से भिन्न किसी

पदार्थ से समवेत हो तथा (३) जो सत्ता के द्वारा सीधे (साक्षात्, परंपरा से नहीं) व्याप्त हो सके। **समवायि-कारण** उसे कहते हैं जिसके समवेत होने या मिलने पर कार्य उत्पन्न होता है, जैसे—पट के लिए तन्तु, घट के लिए मिट्टी आदि। समवायि-कारण कोई द्रव्य ही होता है। द्रव्य में गुणत्व नहीं रहता, वह किसी गुण में ही रह सकता है अर्थात् गुणत्व द्रव्य से समवेत नहीं होता है। **असमवायि-कारण** उसे कहते हैं जो कार्य या कारण के साथ किसी वस्तु के मिल जाने पर कारण के रूप में आवे, जैसे—पट में तन्तुओं के मिलने (समवेत होने) पर उन तन्तुओं का संयोग पटरूपी कार्य के लिए कारण है।* असमवायि-कारण से भिन्न आत्मा के विशेष गुण होते हैं क्योंकि आत्मा के गुण कभी भी असमवायि-कारण नहीं हो सकते। इन गुणों से गुणत्व समवेत रहता है। सत्ता तीन पदार्थों में है—द्रव्य, गुण, कर्म। इसके द्वारा साक्षात् तीन जातियों को व्याप्त किया जा सकता है—द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व। पृथिवीत्व आदि द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्त होते हैं, सत्ता के द्वारा परंपरा से। सत्ता पहले द्रव्यत्व को व्याप्त करती है, फिर द्रव्यत्व पृथिवीत्व को व्याप्त करता है। इसीको 'परंपरया व्याप्तिः' कहते हैं। इसीलिए गुण-सामान्य सत्ता के द्वारा साक्षात् व्याप्य है। और भी पदार्थ—द्रव्यत्व, कर्मत्व—सत्ता से व्याप्त होते हैं पर अन्य विशेषण गुण-सामान्य को उनसे पृथक् कर देते हैं। लक्षण में दो चीजें दी जाती हैं—एक तो सामान्य-धर्म (Genus), दूसरा विशेष-धर्म (Differentia)। तीसरा विशेषण सामान्य-धर्म है, प्रथम दोनों विशेषण विशेष-धर्म हैं।

अब विशेषणों की उपयोगिता पर दृष्टिपात करें। ऊपर हम देख चुके हैं कि इस लक्षण में जो सामान्य-धर्म है वह गुणत्व, द्रव्यत्व और कर्मत्व तीनों के लिए समान है। यह तो इसका विशेष-धर्म है जो उन दोनों से गुणत्व को पृथक् करता है। इसलिए यदि विशेष धर्मों में से कोई हटता है तो लक्षण द्रव्यत्व या कर्मत्व को व्याप्त कर लेगा। (१) यदि लक्षण से हम यह विशेषण हटा दें कि 'यह (गुणसामान्य) समवायि-कारण अर्थात् द्रव्य से असमवेत रहता है', तो यह लक्षण द्रव्यत्व को अतिव्याप्त कर लेगा। द्रव्य का सामान्य सत्ता के द्वारा साक्षात् रूप से व्याप्य होता है तथा असमवायि-कारण से भिन्न द्रव्य में समवेत भी होता है। द्रव्य कभी भी असमवायि-कारण नहीं हो सकता इसलिए द्रव्य में समवेत होने के कारण द्रव्यत्व 'असमवायिकारणभिन्न-समवेत' है ही। हाँ, यह समवायिकारण (द्रव्य) से असमवेत नहीं हो सकता क्योंकि द्रव्यत्व

* इनके अतिरिक्त, इन दोनों से भिन्न निमित्त-कारण (Efficient Cause) भी होता है जैसे—पट-कार्य के लिए जुलाहा, करघा, डंडा आदि।

द्रव्य (समवायि-कारण) में अवस्थित रहता है इस प्रकार यदि पहला विशेषण उक्त लक्षण से हटा दें तो यह द्रव्यत्व का भी लक्षण बन जायगा । (२) यदि उक्त लक्षण से यह विशेषण हटा दें कि 'यह (गुण-सामान्य) असमवायिकारण से भिन्न (आत्मा के विशेष-गुण जैसे--ज्ञान, बुद्धि) वस्तुओं से समवेत होता है', तो यह कर्मत्व को अतिव्याप्त (include) कर लेगा । कर्म का सामान्य सत्ता के द्वारा तो साक्षाद् व्याप्त होता ही है, समवायि-कारण (द्रव्य) से असमवेत भी रहता है । कर्म और द्रव्य में समवाय-संबंध तो है नहीं । केवल एक बात है कि कर्मत्व असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु से समवेत नहीं रहता । सभी कर्म असमवायि-कारण हैं क्योंकि उनका संबन्ध संयोग या विभाग से अनिवार्यतः होता है असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु में कर्म की कल्पना ही असंभव है । (३) अब यदि अंतिम विशेषण कि 'यह सत्ता के द्वारा साक्षात् रूप में व्याप्य होता है', हटा दें, तो ज्ञानत्व आदि में ही अतिव्याप्ति हो जायगी । ज्ञानत्व की वृत्ति ज्ञान में रहती है, समवायि-कारण (द्रव्य) में नहीं । इसलिए ज्ञानत्व समवायि-कारण से असमवेत है । यह असमवायि-कारण से भिन्न वस्तु में समवेत भी है क्योंकि ज्ञान आदि आत्मा के विशेष गुण हैं, ये असमवायि-कारण नहीं हो सकते—असमवायि-कारण से भिन्न स्थान में, जैसे-ज्ञान में इनकी वृत्ति होती है । किन्तु इस ज्ञान को सत्ता साक्षात् रूप से व्याप्त नहीं करती । गुण के द्वारा ज्ञान सीधे व्याप्त होता है, सत्ता के द्वारा परम्परा से । इस प्रकार गुणत्व का शुद्ध लक्षण यदि चाहते हैं, कोई पद हटा नहीं सकते ।]*

(५ क. कर्मत्व, सामान्य, विशेष और समवाय)

कर्मत्वं नाम नित्यासमवेतत्वसहितसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः । सामान्यं तु प्रध्वंसप्रतियोगित्वरहितमनेकसमवेतम् । विशेषो नामान्योन्याभावविरोधिसामान्यरहितः समवेतः । समवायस्तु समवायरहितः संबन्धः इति षण्णां लक्षणानि व्यवस्थितानि ।

* गुणत्व के लक्षण में एक दूसरा पाठ भी है—**समवायिकारणासमवायिकारणभिन्नसमवेतसत्तासाक्षाद्व्याप्यजातिः** अर्थात् गुणत्व वह है जो सत्ता के द्वारा साक्षाद् व्याप्य हो, समवायि-कारण या असमवायि-करण से भिन्न पदार्थों से समवेत हो । द्रव्य समवायि-कारण है, उससे गुण भिन्न है । संयोग विभाग असमवायि-कारण हैं, गुण उनसे भी भिन्न है । दोनों पाठ एक ही अर्थ पर आते हैं ।

कर्म की जाति वह है जो नित्य पदार्थों में समवाय-सम्बन्ध के साथ विद्यमान न हो तथा सत्ता के द्वारा सीधे-सीधे व्याप्त होती हो। [यह स्मरणीय है कि द्रव्यत्व या गुणत्व नित्य पदार्थों में समवेत होते हैं—द्रव्यत्व जाति परमाणु, आकाश आदि नित्य पदार्थों में समवेत होती है; गुणत्व-जाति भी जलादि परमाणुओं में स्थित रूप आदि गुणों में तथा परमात्मा में स्थित ज्ञानादि गुणों में रहती है। ये गुण नित्य हैं तथा इनमें गुण की जाति समवाय-संबध से रहती है। द्रव्यत्व और गुणत्व नित्य पदार्थों में समवेत हैं, असमवेत नहीं हैं—इसीलिए उन दोनों से पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए कर्मत्व को नित्य से असमवेत कहा गया है। सभी **कर्म** अनित्य होते हैं। इसीलिए नित्य से उसकी जाति को कभी कोई मतलब ही नहीं रहता। ऊपर कह चुके हैं कि सत्ता द्रव्य गुण, कर्म तीनों में रहती है। इसलिए सत्ता के द्वारा सीधा सम्बन्ध कर्मत्व का है। कर्म के भेदों—आकुंचन, प्रसारण आदि—को सत्ता परम्परा से व्याप्त करती है, पहले कर्मत्व को व्याप्त करती है, तब भेदों को।]

सामान्य—(Generality) उसे कहते हैं जो प्रध्वंस (विनाश) का प्रतियोगी (अर्थात् विनाशी Destructible) न हो तथा अनेक पदार्थों में समवेत (Inherent) हो। [नाश का प्रतियोगी (साथ देनेवाला, सामने पड़ने वाला) विनाशी पदार्थ होता है, इसलिए प्रध्वंस का प्रतियोगी = विनाशी, प्रध्वंस-प्रतियोगित्व = विनाशित्व, उससे रहित = अविनाशी। तात्पर्य यह है कि सामान्य का विनाश नहीं होता। जिस वस्तु की जाति मानी जाती है उसके पदार्थों के नष्ट होने पर भी जाति यथापूर्व स्थित रहती है—उसका विनाश नहीं होता। भारतीयों के मरने पर भी भारतीयता ज्यों की त्यों रहती है, घट के नष्ट होने पर भी घटत्व रहता है। दूसरे, जाति या सामान्य की स्थिति समवाय-सम्बन्ध से अनेक पदार्थों में रहती है, एक ही पदार्थ में नहीं। केवल अविनाशी होने से तो दिक्, काल आदि में भी अतिव्याप्ति हो जायगी। इन्हें व्यावृत्त (Exclude) करने के लिए ही 'अनेक-समवेत' विशेषण लगाया गया है। दिक्, काल अनेक पदार्थों में नहीं रहते जब कि घटत्व एक ही साथ संसार के सारे घटों में है।]

विशेष—(Particularity) वह है जो समवाय-सम्बन्ध से अवस्थित हो तथा जो अन्योन्याभाव का विरोध करनेवाले सामान्य से रहित हो। [अन्योन्याभाव उस अभाव को कहते हैं जब एक दूसरे में एक दूसरे का अभाव होता है, घट और पट का पारस्परिक भेद अन्योन्याभाव है। परमाणुओं में जो आपस में भेद है वह भी अन्योन्याभाव है। इस भेद को समझने के लिए

विशेष की आवश्यकता है। अन्योन्याभाव का विरोध करने वाले सामान्य इसमें नहीं रहते। सामान्य से रहित होने से द्रव्य गुण और कर्म से इसका पार्थक्य प्रकट होता है। अन्योन्याभाव का विरोधी कहने से सामान्य से व्यावृत्ति होती है। सामान्य का सामान्य नहीं होता, यह सर्वविदित है। किन्तु यह ध्यातव्य है कि **सामान्य में सामान्य का अभाव इसलिए मानते हैं कि अनवस्था दोष न प्राप्त हो जाय,** इसलिए नहीं कि वह अन्योन्याभाव का विरोध करेगा। विशेषों में एक दूसरे के साथ अन्योन्याभाव रहता है. कोई विशेष समान नहीं होता कि एक जाति में उन्हें रखें। प्रत्येक विशेष विशेष है (Type in itself)। यदि विशेषों की जाति होने लगे तो विशेषता उनसे छिन जायगी, समानता होने लगेगी। सामान्य और विशेष में सम्बन्ध कैसा? सभी विशेष अन्योन्याभाव की प्रतीति कराते हैं। इसमें सामान्य लेने से उनके इस स्वभाव की हानि होगी। इसलिए विशेषों में सामान्य का अभाव इसी से सिद्ध होता है कि **इनमें सामान्य मानने से अन्योन्याभाव की प्रतीति नहीं होगी।** यही कारण है कि विशेष अन्योन्याभाव का विरोध होने के कारण सामान्य से रहित होता है। विशेष को समवेत मानने से इसका पार्थक्य समवाय-नामक पदार्थ से स्पष्ट होता है। समवाय में दूसरा समवाय नहीं होता जिससे वह समवेत भी नहीं हो सकता।]*

समवाय से रहित सम्बन्ध को **समवाय** (Inherence) कहते हैं. इस प्रकार छहों पदार्थों के लक्षण पृथक्-पृथक् कहे गये। [जिस सम्बन्ध का समवाय नहीं हो वही समवाय है। इसके द्वारा संयोग-सम्बन्ध का विभेद किया जाता है। संयोग गुण है, संयोगी पदार्थों में वह समवाय-सम्बन्ध से अवस्थित हो सकता है। वास्तव में समवाय वह है जब दो पदार्थों में नित्य सम्बन्ध हो, जैसे पृथिवी और गन्ध में समवाय है। अब इस समवाय में कोई दूसरा समवाय नहीं होगा। दूसरी ओर दो वस्तुओं में संयोग (थोड़ी देर के लिए) सम्बन्ध हुआ है। संयोग और उन वस्तुओं के बीच समवाय हो सकता है। अब आगे नहीं बढ़ सकेंगे कि फिर समवाय का समवाय होगा।]

---

* जिन वस्तुओं में अवयव होते हैं उनके व्यक्तियों (Individuals) को अवयवों का अन्तर देखकर पहचाना जा सकता है। किन्तु ऐसे भी पदार्थ हैं जिनके अवयव नहीं हैं जैसे—आकाश, काल, दिक्, परमाणु (पृथिवी, जल आदि के), जीव आदि। इनके व्यक्तियों को जानने के लिए ही विशेष की आवश्यकता पड़ती है। विशेष का विवेचन वैशेषिकों का अपूर्व प्रयास है जिससे दर्शन का नाम ही पड़ा है।

(६. द्रव्य के भेद और उनके लक्षण)

द्रव्यं नवविधं पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशकालदिगात्ममनांसि इति। तत्र पृथिव्यादिचतुष्टयस्य पृथिवीत्वादिजातिर्लक्षणम्।

पृथिवीत्वं नाम पाकजरूपसमानाधिकरणद्रव्यत्वसाक्षाद्व्याप्यजातिः। अप्त्वं नाम सरित्सागरसमवेतत्वे सति ज्वलनासमवेतं सामान्यम्।

द्रव्य नौ प्रकार का है—पृथिवी, अप् (जल), तेजस् (अग्नि), वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मन् और मनस्। उनमें पृथिवी आदि प्रथम चार द्रव्यों के लक्षण हैं पृथिवीत्व आदि की जाति। [पृथिवी का लक्षण पृथिवीत्व की जाति, अप् का लक्षण अप्त्व-जाति, तेजस् का लक्षण है-तेजस्त्व-जाति, वायु का लक्षण वायुत्व-जाति। जिस प्रकार द्रव्य, गुण, कर्म के लक्षणों में उनके सामान्यों का उल्लेख होता है उसी प्रकार इन द्रव्यों के लक्षण में भी इनके सामान्य के द्वारा ही इन्हें लक्षित (Define) किया जाता है। अब इनके सामान्यों के लक्षण दिये जाते हैं। यह द्रविड़-प्राणायाम न्याय-वैशेषिकों की विशेषता है। किसी बात को सीधे कहने में नाना प्रकार की आपत्तियाँ होती हैं, इसलिए तौल-तौल कर एक एक शब्द पर ध्यान रखते हुए वे लक्षण देते हैं। इसके लिए चाहे जितना पर्यटन करना पड़े।]

पृथिवी-सामान्य का लक्षण—जो पाक (अग्नि-संयोग) से उत्पन्न रूप के समानाधिकरण (Identical) हो तथा द्रव्य-सामान्य के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके, उसी जाति को पृथिवी-जाति कहते हैं। [पाक = तेज का संयोग। इसी से पृथिवी में रूपादि गुणों का परावर्तन (Reflection) होता है। जिस प्रकार पके हुए आम के फल में पीत-रूप आदि परावृत्त होते हैं उसी प्रकार पृथिवी में भी उक्त क्रिया होती है। यह बात जलादि द्रव्यों में नहीं पायी जाती। जल में अग्नि संयोग होने पर भले ही उष्ण-स्पर्श का अनुभव होता है किन्तु जल में स्वतः विद्यमान शीत-स्पर्श का परावर्तन नहीं होता। जल में प्रविष्ट होने वाले अग्नि-कणों के साथ-साथ ही उष्णता स्थित है, जल के साथ नहीं। उष्णता की प्रतीति होने के समय भी जल वास्तव में शीतल ही है। उस समय शीतस्पर्श का भान नहीं हो रहा है, यह दूसरी बात है। उक्त लक्षण में 'पाकज-रूप-समानाधिकरण' यह विशेषण लगाने से जलत्व आदि में अतिव्याप्ति नहीं होती। यहाँ यह स्मरणीय है कि जिस जाति का लक्षण

करना अभीष्ट हो उससे भिन्न सभी जातियों को पृथक् कर देना चाहिए। ये पृथक् करने योग्य जातियाँ दो प्रकार की हो सकती हैं—या तो लक्ष्य (Defined) जाति के समानाधिकरण हो या उससे व्यधिकरण हो। सजातीय-विजातीय पदार्थों से पृथक् करके लक्ष्य को लक्षित करना ही लक्षण का काम है। समानाधिकरण जातियाँ भी दो प्रकार की होती हैं—कुछ ऐसी हैं जो लक्ष्य की जाति के द्वारा व्याप्त होती हैं और कुछ उन्हें ही व्याप्त करती हैं। अस्तु, यहाँ 'पाकजरूप-समानाधिकरण' के पृथिवीत्व से व्यधिकरण में पड़ने वाली जलत्व आदि सारी जातियों की व्यावृत्ति होती है। जो दो प्रकार की (व्याप्य + व्यापक) समानाधिकरण जातियाँ हैं उनकी व्यावृत्ति (Exclusion) 'द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्य' इस विशेषण से होती है। पृथिवीत्व को व्याप्त करने वाली जातियाँ हैं—द्रव्यत्व (जो सीधे व्याप्त करती है) और सत्ता (जो परम्परा से व्याप्त करती है)। ये दोनों ही द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त नहीं होतीं क्योंकि व्याप्त करने के लिए अधिक क्षेत्र होना चाहिए। दूसरी ओर, पृथिवीत्व के द्वारा व्याप्त होने वाली घटत्व आदि जातियाँ हैं जो द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होती तो हैं पर सीधे नहीं। द्रव्यत्व पहले पृथिवीत्व को व्याप्त करता है फिर घटत्व को। इस प्रकार लक्षण के पद अन्य जातियों को व्यावृत्त करते हैं।]

अप्-सामान्य का लक्षण—जलत्व ऐसा सामान्य है जो सरिताओं और सागरों में समवेत हो किन्तु ज्वलन से समवेत न हो। [सरिताओं और सागरों के साथ जल का समवाय-सम्बन्ध होता है। इस विशेषण का प्रयोग होने से उन जातियों की व्यावृत्ति होती है जो जलत्व से व्यधिकरण में हैं जैसे पृथिवीत्व आदि। इसके साथ सरिताओं-सागरों का संयोग भले ही हो समवाय नहीं हो सकता। इसी विशेषण से उन जातियों की भी व्यावृत्ति (निरास exclusion) होती है जो जलत्व के द्वारा व्याप्त हो सकती हैं जैसे सरित्त्व, सागरत्व आदि। सरित् से सरित्त्व भले ही सतवेत हो क्योंकि वह उसकी जाति है किन्तु सागरत्व तो नहीं होगा। उसी प्रकार सागर से सरित्त्व समवेत नहीं हो सकता। जलत्व-जाति सरित्-सागर दोनों से एक ही साथ समवेत है जबकि सरित्त्व और सागरत्व की जातियाँ सरित् और सागर से क्रमशः (Respectively) समवेत होती हैं। यही कारण है कि इस विशेषण से उनकी व्यावृत्ति हो जाती है। यही नहीं, कूपत्व-तड़ागत्व आदि जातियों के लिए तो किसी में चारा नहीं—न सरित् में, न सागर में। अब बची वे जातियाँ जो जलत्व को ही व्याप्त करती हैं जैसे द्रव्यत्व और सत्ता। जिस समय 'ज्वलन से समवेत न होना' कहते हैं, उसी समय इनकी व्यावृत्ति हो जाती है, द्रव्यत्व भी ज्वलन से समवेत होता है, सत्ता भी ज्वलन से समवेत है क्योंकि सत्ता या द्रव्यत्व में तेजस् या ज्वलन आता है

तो परम्परया या सीधे वह उक्त दोनों से भी समवेत ही है। जलत्व में ज्वलन नहीं होता, होता है तो समवाय-रूप में नहीं। अग्निकणों का प्रवेश और निस्सरण क्षणिक है।]*

तेजस्त्वं नाम चन्द्रचामीकरसमवेतत्वे सति सलिलासमवेतं सामान्यम् । वायुत्वं नाम त्वगिन्द्रियसमवेतद्रव्यत्वसाक्षाद्-व्याप्यजातिः ।

आकाशकालदिशामेकैकत्वादपरजात्यभावे पारिभाषिक्य-स्तिस्रः संज्ञा भवन्ति । आकाशं कालो दिगिति ।

तेजस्त्व—ऐसा सामान्य है जो चन्द्र और स्वर्ण (चामीकर) के साथ समवेत हो किन्तु जल से समवेत न हो। [उपर्युक्त जलत्व की तरह इसकी भी व्याख्या होगी। तेजस्त्व और चन्द्र-चामीकर में समवाय-सम्बन्ध होता है, इस विशेषण के द्वारा तेजस्त्व से व्यधिकरण में स्थित पृथिवीत्व, जलत्व आदि जातियों का निरास होता है। पृथिवी से चन्द्र या स्वर्ण का संयोग-सम्बन्ध हो जाय (यदि इनमें गन्ध का प्रवेश हो) तो हो जाय पर समवाय-सम्बन्ध संभव नहीं। पुनः, तेजस्त्व के द्वारा व्याप्त होनेवाली चन्द्रत्व, स्वर्णत्व आदि जातियों का भी निरसन इसी से होता है क्योंकि चन्द्र चन्द्रत्व से समवेत हो सकता है, स्वर्णत्व से नहीं। स्वर्ण भी स्वर्णत्व से समवेत हो सकता है, चन्द्रत्व से नहीं। दीपक बेचारा किसी से समवेत नहीं होगा। किन्तु तेजस् दोनों से एक ही साथ समवेत रहता है। तेजस्त्व जल से समवेत नहीं होता, इस विशेषण के द्वारा तेजस्त्व को ही व्याप्त करनेवाली जातियों—जैसे सत्ता, द्रव्यत्व—की व्यावृत्ति होती है। ये दोनों जातियाँ परम्परया या सीधे ही सलिल के साथ समवाय-संबंध रखती हैं। तेजस्त्व (ज्वलनत्व) का अस्थायी रूप में जल से संबंध होता है समवाय नहीं।]

वायुत्व—ऐसी जाति है जो त्वचा की इन्द्रिय (स्पर्शेन्द्रिय) से समवेत हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा सीधे व्याप्त हो सके। [वायु के साथ स्पर्शेन्द्रिय संबद्ध है।

---

* यह ध्येय है कि वैशेषिकों की ये सारी परिभाषायें निषेधात्मक हैं—दूसरों की व्यावृत्ति ही मुख्य ध्येय है, स्वरूप का प्रकाशन नहीं। दूसरे शब्दों में ये ऐसा भवन बनाते हैं जिसमें प्रतिरक्षा पर ही विशेष ध्यान रहता है, निवास की सुख-सुविधाओं पर नहीं। भय जो न कराये। कोई चढ़ाई कर दे तो ? उस समय सारी सुविधायें व्यर्थ हो जायेंगी।

वायु के कारण ही स्पर्श का अनुभव होता है। द्रव्यत्व में वायु भी आता है इसलिए साक्षाद्व्याप्त होता है।]

आकाश, काल और दिक्—ये तीनों अकेले-अकेले हैं। इसलिए इनके ऊपर कोई जाति नहीं। यही कारण है कि पारिभाषिक संज्ञायें ये तीनों स्वयं हैं—आकाश, काल और दिक्। [उपर्युक्त द्रव्यों में पारिभाषिक संज्ञायें उनकी जातियाँ थीं जैसे—पृथिवी का पृथिवीत्व, जल का जलत्व। परन्तु यहाँ सीधे आकाश का ही लक्षण होगा—आकाशत्व का नहीं। आकाश एक होता है। जाति तभी होती है जब अनेकता हो। अनेक गौ होने पर ही गोत्व का प्रयोग होता है। सामान्य (समानता, जाति) के लिए न्यूनतम दो व्यक्ति रहने ही चाहिएँ अन्यथा समानता किसमें ?]

संयोगाजन्यजन्यविशेषगुणसमानाधिकरणविशेषाधिकरणमाकाशम्। विभुत्वे सति दिगसमवेतपरत्वासमवायिकारणाधिकरणः कालः। अकालत्वे सति अविशेषगुणा महती दिक्।

आकाश का लक्षण—संयोग से उत्पन्न न होने वाले (संयोगाजन्य) तथा अनित्य (जन्य) [आकाश के] विशिष्ट गुण के साथ जो विशेष समानाधिकरण (समान) हो उसी विशेष का आधार आकाश है। [ऊपर देख चुके हैं कि विशेष नामक पदार्थ केवल नित्य द्रव्यों के साथ अवस्थित रहता है। आकाश भी नित्य है, इसीलिए इसमें कोई विशेष अवश्य ही होगा। दूसरे शब्दों में, आकाश विशेष का आधार या अधिकरण है। आकाश में एक विशिष्ट गुण (Special quality) है शब्द। इस शब्द के साथ ही आकाश में अवस्थित विशेष समानाधिकरण है। कारण यह है कि शब्द का आधार भी आकाश है, उस विशेष का भी आधार आकाश है। आधार या अधिकरण की समानता के कारण दोनों समानाधिकरण हैं। इस लक्षण में उस विशिष्ट गुण (शब्द) के दो विशेषण हैं—संयोगाजन्य तथा जन्य। शब्द जन्य अर्थात् अनित्य है, उत्पन्न किया जाता है इसलिए अनित्य है। यह ध्येय है कि मीमांसक और वैयाकरण लोग शब्द को नित्य मानते हैं, जब कि नैयायिक और वैशेषिक उसे अनित्य स्वीकार करते हैं। संयोग से उत्पन्न न होना भी शब्द का धर्म है। वैशेषिकों के यहाँ विभाग से उत्पन्न तथा शब्द से उत्पन्न शब्द की सत्ता मानी जाती है।

अब हम लक्षण के तार्किक पक्ष पर चलें। 'विशेषाधिकरण' कहने से द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि, गुण, कर्म आदि तथा सभी अनित्य द्रव्यों की व्यावृत्ति होती है। विशेष केवल नित्य पदार्थ में ही रह सकते हैं। विशेष गुण को संयोग

से अजन्य तथा जन्य (अनित्य) भी होना चाहिए। देखिए, पृथ्वी के परमाणुओं में स्थित रूपादि गुण यद्यपि जन्य (उत्पन्न होने के कारण अनित्य) हैं किन्तु संयोग से उत्पन्न न होते हों, ऐसी बात नहीं है। ये विशेष गुण पाकज अर्थात् तेज के संयोग से उत्पन्न होते हैं। जल, तेज और वायु के परमाणुओं में जो विशेष गुण हैं वे जन्य ही नहीं हैं, प्रत्युत नित्य हैं। दिक्, काल और मन में कोई विशेष गुण है ही नहीं। परमात्मा में अवस्थित जो बुद्धि आदि विशेष गुण हैं वे नित्य हैं, जन्य नहीं। जीवात्मा के बुद्धि आदि गुण जन्य हैं पर संयोगाजन्य नहीं क्योंकि वे मन के संयोग से उत्पन्न होते हैं (तो संयोगजन्य ही हुए, संयोगाजन्य नहीं)। तो, सभी दशाओं में आकाश ही ऐसा बचता है जो संयोगाजन्य तथा जन्य विशेष गुण को धारण करता है तथा उस गुण के समानाधिकरण विशेष का भी आधार है।

इस लक्षण में कहना केवल इतना ही था कि शब्द जिसका गुण हो वही आकाश है। इतना घटाटोप वैचित्र्य का प्रदर्शन करने के लिए ही हुआ है। हाँ, यह कह सकते हैं कि विशेष का आधार होने पर किन-किन में परस्पर साधर्म्य होगा या विशेष गुण के समानाधिकरण विशेष का आधार होने पर किन में साधर्म्य होगा—इस प्रकार के ज्ञान की आवश्यकता तब पड़ती है जब इसी लक्षण के अनुमान में हम व्याप्ति के उदाहरण दिखलाने लगते हैं। आकाश का लक्षण वास्तव में संसृष्ट (Complicated) हो गया है।]

काल का लक्षण—काल वह द्रव्य है जो व्यापक (विभु pervasive) हो तथा दिक् (Space) से असमवेत परत्व के असमवायि-कारण का अधिकरण हो। [परत्व (Distance) दो प्रकार का होता है—स्थानगत अर्थात् समीप की वस्तु की अपेक्षा दूरस्थ वस्तु में विद्यमान परत्व (Spatial distance) तथा कालगत अर्थात् छोटी अवस्थावाले पदार्थ की अपेक्षा बड़ी अवस्था वाले पदार्थ में विद्यमान परत्व (Temporal distance)। **स्थानगत परत्व** का असमवायि-कारण होता है दिक् (स्थान) और वस्तु का संयोग। इसमें दिक् समवेत रहता है और काल असमवेत, क्योंकि संयोग दो ही पदार्थों का हो सकता है। **कालगत परत्व** का असमवायी कारण है काल और वस्तु का संयोग। इसमें दिक् असमवेत रहता है, काल समवेत। काल इसी का आधार है अर्थात् काल में ही काल-वस्तु-संयोग होता है। 'विभु' का प्रयोग करने से ज्येष्ठ में अतिव्याप्ति नहीं होती। संयोग चूँकि दो वस्तुओं का होता है इसलिए काल और ज्येष्ठ वस्तु दोनों में उसकी सत्ता रह सकती है। अन्तर यही है कि काल विभु होता है, ज्येष्ठ वस्तु विभु नहीं हो सकती। 'परत्व' का प्रयोग करने

से आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति रुकती है क्योंकि आकाश या आत्मा परत्व का असमवायी कारण नहीं हो सकते। 'दिक् से असमवेत' कहने से दिशा में अतिव्याप्ति रुकती है।]

दिक् का लक्षण—जो काल न हो, किसी विशेष गुण से रहित हो तथा महती (विभु, व्यापक) हो वही दिक् है। [काल में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'अकाल' कहते हैं। काल भी विशेष गुण से शून्य तथा विभु होता है। दिक् उक्त विशेषणों से युक्त होने पर भी काल नहीं है। आकाश और आत्मा में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'विशेष गुण से रहित' ऐसा विशेषण लगाया गया है। आकाश का विशेष गुण शब्द है, आत्मा का बुद्धि आदि। ये दोनों अकाल हैं तथा विभु हैं किन्तु विशेष गुण से रहित नहीं हैं। मन में अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'महती' कहा गया है। मन अकाल भी है, विशेष गुण से रहित भी, किन्तु विभु नहीं है। इसीलिए यह लक्षण केवल दिक् का ही हुआ।]

आत्ममनसोरात्मत्वमनस्त्वे। आत्मत्वं नामामूर्तसमवेत-द्रव्यत्वापरजातिः। मनस्त्वं नाम द्रव्यसमवायिकारणत्वरहिताणु-समवेतद्रव्यत्वापरजातिः।

आत्मन् और मनस् के लक्षण हैं आत्मत्व अर्थात् आत्मा का सामान्य तथा मनस्त्व अर्थात् मन का सामान्य। [अब इन दोनों सामान्यों के लक्षण दिये जायँगे।]

आत्मत्व का लक्षण—आत्मत्व ऐसी जाति है जो मूर्त द्रव्यों में समवेत न हो तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होती है। [पृथिवी, जल, तेज, वायु और मन—ये पाँच मूर्त द्रव्य हैं। उनमें उन-उन द्रव्यों की जातियाँ समवेत रहती हैं। उन सबों का निरसन इसी विशेषण से होता है—अमूर्तसमवेत। आकाश, काल और दिक् एक-एक ही हैं, इसलिए उनमें तो जाति का ही प्रश्न नहीं उठता। इस प्रकार आत्मत्व-जाति ही लक्षित होती है।]

मनस्त्व का लक्षण—जो अणु (Atoms) द्रव्य का समवायि-कारण नहीं हो सकते उन अणुओं में समवेत (Eternally connected) तथा द्रव्यत्व के द्वारा व्याप्त होनेवाली जाति को मनस्त्व-जाति कहते हैं। [मन के परमाणु ऐसे हैं जो किसी द्रव्य का समवायि-कारण नहीं बन सकते। पृथिवी, जल, तेज और वायु के परमाणुओं का संयोग होने पर उन द्रव्यों के द्व्यणुक, त्र्यणुक, चतुरणुक आदि बनते हैं। इस प्रकार वे परमाणु द्व्यणुकादि के समवायि-कारण होते हैं। मन इनसे पृथक् है क्योंकि इसके अणु समवायि-कारण

नहीं हैं। अणु कहने से उन पदार्थों की व्यावृत्ति होती है जो विभु है जैसे—आकाश, काल, दिक् आत्मा। मन अणु होता है।

इस प्रकार नौ द्रव्यों के लक्षण समाप्त हुए। उन द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज, वायु तथा आत्मा, मन की जातियाँ हैं, जब कि आकाश, काल और दिक् अकेले हैं।]

(७. गुण के भेद और उनके लक्षण)

रूप-रस-गन्ध - स्पर्श-संख्या - परिमाण -पृथक्त्व-संयोग-विभाग-परत्वापरत्व-बुद्धि-सुखदुःखेच्छा-द्वेष-प्रयत्नाश्च कण्ठोक्ताः सप्तदश, चशब्दसमुच्चिता गुरुत्व-द्रवत्व-स्नेह-संस्कारादृष्ट-शब्दाः सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः।

तत्र रूपादिशब्दान्तानां रूपत्वादिजातिर्लक्षणम्। रूपत्वं नाम नीलसमवेतगुणत्वापरजातिः। अनया दिशा शिष्टानां लक्षणानि द्रष्टव्यानि।

गुण चौबीस होते हैं। उनमें सत्रह तो साक्षात् कणाद के मुख से ही कहे गये हैं—रूप (Colour), रस (Taste), गन्ध (Smell), स्पर्श (Touch), संख्या (Number), परिमाण (Magnitude), पृथक्त्व (Distinctness), संयोग (Conjunction), विभाग (Disjunction), परत्व (Remoteness), अपरत्व (Nearness), बुद्धि (Cognition), सुख (Pleasure), दुःख (Pain), इच्छा (Desire), द्वेष (Aversion), प्रयत्न (Effort)। जिस सूत्र में कणाद ने इनका उल्लेख किया है उनमें 'च (और)' शब्द आया है, इससे सात और गुणों का भी समुच्चय (Addition) होता है—गुरुत्व (Heaviness), द्रवत्व (Fluidity), स्नेह (Viscidity), संस्कार (Tendency), अदृष्ट अर्थात् धर्म (Merit), और अधर्म (Demerit), शब्द (Sound)। [कणाद ने अपने वैशेषिक-सूत्र १।१।५ में सत्रह गुणों का इस प्रकार उल्लेख किया है—रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्या परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ परत्वापरत्वे बुद्धयः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। ये सत्रह गुण कणाद के कण्ठ से कहे गये हैं। 'च' (भी) का प्रयोग बतलाया है कि कुछ गुण और भी उन्हें कहने को हैं। उन सात गुणों का समुच्चय होता है। मेरी समझ में वास्तव में 'च' के द्वारा सात

गुणों का समुच्चय नहीं होता। सूत्र में पृथक्-पृथक् गुणों का निर्देश किया गया है। प्रयत्न अंतिम गुण है उसी का सम्बन्ध शेष गुणों के साथ दिखलाना 'च' को अभीष्ट है। बाद में टीकाकारों ने चौबीस गुण बनाये तथा 'च' की नई व्याख्या की।]

उनमें रूप से लेकर शब्द पर्यन्त जितने गुण हैं (अर्थात् चौबीस) उनके लक्षण हैं रूपत्व आदि की जाति। [जिस प्रकार द्रव्यों के लक्षण में जाति द्वारा लक्षण दिया जाता है उसी प्रकार गुणों के लक्षण में भी जाति का प्रयोग होता है।] रूपत्व-जाति वह है जो नील से समवेत हो और गुणत्व के द्वारा व्याप्त होती है। [रसत्व, गन्धत्व आदि जातियाँ नील से समवेत नहीं रहतीं]।

इसी रीति से अवशिष्ट गुणों के लक्षण भी देखे जा सकते हैं। [विशेष ज्ञान के लिए तर्कसंग्रह, सिद्धान्तमुक्तावली या वैशेषिकसूत्र ही देखे जायँ।]

(८. कर्म आदि के भेद)

कर्म पञ्चविधम्। उत्क्षेपणापक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनभेदात्। भ्रमणरेचनादीनां गमन एवान्तर्भावः। उत्क्षेपणादीनामुत्क्षेपणत्वादिजातिर्लक्षणम्। तत्रोत्क्षेपणत्वं नामोर्ध्वदेशसंयोगासमवायिकारणसमवेतकर्मत्वापरजातिः। एवमपक्षेपणत्वादीनां लक्षणं कर्तव्यम्।

कर्म के पाँच भेद हैं—उत्क्षेपण (Throwing upwards), अपक्षेपण (Throwing downwards), आकुंचन (सिकुड़ना Contraction), प्रसारण (Expansion) तथा गमन (Motion)। भ्रमण (घूमना), रेचन (खाली करना) आदि कर्मों को गमन में ही समाहित कर लेते हैं। उत्क्षेपण आदि कर्मों का लक्षण है उत्क्षेपणत्व आदि की जाति। तो उत्क्षेपणत्व का अर्थ है वैसी जाति जो कर्मत्व के द्वारा व्याप्त होती है तथा ऊपरी स्थानों के साथ संयोग के असमवायी कारण (अर्थात् कर्मविशेष) से समवेत रहती है। [तात्पर्य यह है कि ऊर्ध्वदेश के साथ संयोग करने का हेतु ही उत्क्षेपण नामक कर्म है।] इसी प्रकार अपक्षेपण आदि की जातियों के भी लक्षण कर लेना चाहिए।

विशेष—उत्क्षेपण का अर्थ है ऊपर फेंकना, अपक्षेपण = नीचे फेंकना (अधोदेश से संयोग का कारण)। आकुंचन = वस्तुओं का वक्र होना या वस्तु

के अवयवों का निकटतर आ जाना। प्रसारण = वस्तुओं का सीधा हो जाना या उनके अवयवों का दूर हो जाना। इन कर्मों के अतिरिक्त सारे कर्म गमन में आते हैं। भाषा-परिच्छेद (७) में कहा गया है—

भ्रमणं रेचनं स्यन्दनोर्ध्वज्वलनमेव च।
तिर्यग्गमनमप्यत्र गमनादेव लभ्यते॥

घूमना-फिरना, खाली करना, प्रवाहित होना, ऊपर की ओर जलना, तिरछा चलना आदि सारी क्रियायें गमन में ही समझी जाती हैं। गमन का क्षेत्र इतना व्यापक हो जाता है कि हमें उत्क्षेपण आदि प्रथम चार कर्मों की पृथक् सत्ता पर भी संदेह होने लगता है। पर सूत्रकार की स्वतंत्र इच्छा पर कौन प्रश्न करे ?

सामान्यं द्विविधं परमपरं च। परं सत्ता द्रव्यगुणसमवेता। अपरं द्रव्यत्वादि। तल्लक्षणं प्रागेवोक्तम्।

विशेषाणामनन्तत्वात् समवायस्य चैकत्वाद् विभागो न संभवति। तल्लक्षणं च प्रागेवावादि।

सामान्य दो प्रकार का है—पर (Highest) और अपर (Lower)। पर सामान्य (Summum Genus) तो सत्ता ही है जो द्रव्य और गुण से समवेत है। [केवल द्रव्य का नाम लेने से द्रव्यत्व में अतिव्याप्ति हो जाती, केवल गुण का नाम लेने से गुणत्व में। इसलिए दोनों में समवेत कहा गया है। यह भी कह सकते हैं कि कर्म में भी समवेत होती है किन्तु दो से ही काम चल जाता है—लक्षण में तो कम से कम शब्द न होने चाहिएँ ?] अपर सामान्य तो द्रव्यत्व आदि हैं जिनके लक्षण पहले ही दिये जा चुके हैं। [कितने लोग पर, अपर और परापर ये तीन सामान्य मानते हैं। पर तो सर्वोच्च सामान्य है जैसे-सत्ता। अपर नीचे का सामान्य है जैसे-पृथिवीत्व। परापर वह है जो किसी सामान्य की अपेक्षा पर हो, किसी की अपेक्षा अपर, जैसे—द्रव्यत्व पृथिवीत्व की अपेक्षा पर (ऊपर) है किन्तु सत्ता की अपेक्षा तो अपर (नीचे) है।]

विशेष अनन्त प्रकार के हैं और **समवाय** तो एक ही तरह का है, इसलिए इनका विभाजन करना संभव ही नहीं है। जहाँ तक इनके लक्षणों का प्रश्न है, हम उन्हें पहले ही देख चुके हैं।

विशेष—यहाँ पर वैशेषिक-दर्शन के आधारभूत पदार्थों का विवेचन समाप्त हो गया। अब इसके कुछ गम्भीर विषयों में माधवाचार्य प्रवेश कर रहे हैं। वे विषय हैं—द्वित्व की उत्पत्ति, पाकज की उत्पत्ति, विभागज विभाग

इत्यादि। इनका विचार कर लेने पर अभाव का निरूपण होगा और वहीं इस दर्शन का अन्त हो जायगा।

(९. द्वित्व आदि की उत्पत्ति का विवेचन)

३. द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ विभागे च विभागजे।
यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकं विदुः॥
इत्याभाणकस्य सद्भावाद् द्वित्वाद्युत्पत्तिप्रकारः प्रदर्श्यते।

"पक्का वैशेषिक उसी को कहते हैं जिसकी बुद्धि द्वित्व (Duality) की संख्या के विषय में, पाकज उत्पत्ति (अग्नि-संयोग के कारण होने वाले परिवर्तन) के विषय में तथा विभाग (Disjunction) से उत्पन्न होने वाले विभाग के विषय में स्खलित (च्युत) नहीं होती। (तात्पर्य यह है कि वैशेषिक-दर्शन में इन तीनों की विवेचना विशेष रूप से की जाती है।)" ऐसी लोकोक्ति संसार में प्रचलित है, इसलिए अब यहाँ द्वित्व आदि की उत्पत्ति की विधि दिखलाई जायगी।

विशेष—गुणों में एक गुण संख्या भी है, जिससे हम एक-दो-तीन आदि का व्यवहार करते हैं। इनमें एकत्व ही मुख्य नैसर्गिक संख्या है जो आधार वस्तु की प्रकृति के अनुसार नित्य या अनित्य होती है—यदि नित्य पदार्थ में (जैसे आकाश में) एकत्व हो तो वह नित्य होता है, यदि अनित्य वस्तु में रहे तो यही एकत्व अनित्य हो जाता है। एकत्व के अतिरिक्त सारी संख्यायें कृत्रिम तथा अनित्य हैं। हम अपनी बुद्धि के कारण द्वित्व, त्रित्व, बहुत्व आदि की कल्पना करते हैं क्योंकि व्यावहारिक दशा में उसकी आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार एकत्व जहाँ वस्तु में स्वभावतः स्थित है, द्वित्व बुद्धि (= अपेक्षाबुद्धि) पर निर्भर करता है, बुद्धि के द्वारा ही वस्तुओं पर द्वित्व-त्रित्वादि का आरोपण होता है। अपेक्षाबुद्धि उसे कहते हैं जिससे यह ज्ञान होता है कि यह एक है, यह दूसरा है। अनेक पदार्थों में एक-एक का बोध इसी से होता है (अनेकैकत्व-विषयिणी बुद्धिः)।

अपेक्षाबुद्धि और द्वित्व के सम्बन्ध के विषय में मीमांसकों और वैशेषिकों में मतभेद है। मीमांसक कहते हैं कि जिस समय दो घट एक साथ होते हैं उसी समय द्वित्व संख्या उत्पन्न हो जाती है। बाद में इन्द्रियों के साथ घटों का संनिकर्ष (contact) होने पर 'यह एक घट है, वह दूसरा' इस प्रकार की अपेक्षाबुद्धि के द्वारा द्वित्व का ज्ञान होता है। द्वित्व पहले से वर्तमान है जिसकी अभिव्यक्ति (manifestation) अपेक्षाबुद्धि के द्वारा होती है। अपेक्षाबुद्धि

द्वित्व को उत्पन्न नहीं करती। वैशेषिकों का विचार ठीक उलटा है। वे कहते हैं कि जब द्वित्व संख्या अज्ञात है (जैसा कि मीमांसक अपेक्षाबुद्धि के पहले उसे मानते हैं) तब उसे स्वीकार करना ही निरर्थक है। इसलिए उसकी सत्ता (ज्ञात या अज्ञात भी) तभी होती है जब अपेक्षाबुद्धि उसे उत्पन्न करती है। इस दृष्टि से अपेक्षाबुद्धि के द्वारा द्वित्व संख्या की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं।

द्वित्व के नाश के विषय में भी दोनों के मत विरोधी ही हैं। मीमांसकों के अनुसार दो घटों के वियुक्त होने पर द्वित्व का नाश होता है, जब कि वैशेषिक अपेक्षाबुद्धि को भी लगाकर कई अवस्थाओं के बाद विनाश मानते हैं। वैशेषिकों की द्वित्वोत्पत्ति और द्वित्व-निवृत्ति अभी आगे मिलती है। आठ क्षणों में उत्पत्ति और उतने ही क्षणों में निवृत्ति (नाश) भी होती है। इनका वर्णन देखें।

(९ क. द्वित्व की उत्पति का क्रम)

तत्र प्रथमिन्द्रियार्थसंनिकर्षः (१)। तस्मादेकत्वसामान्यज्ञानम् (२)। ततोऽपेक्षाबुद्धिः (३)। ततो द्वित्वोत्पत्तिः (४)। ततो द्वित्वत्वसामान्यज्ञानम् (५)। तस्माद् द्वित्वगुणज्ञानम् (६)। ततो 'द्वे द्रव्ये' इति धीः (७)। ततः संस्कारः (८)। तदाह—

४. आदाविन्द्रियसंनिकर्षघटनादेकत्वसामान्यधी-
रेकत्वोभयगोचरा मतिरतो द्वित्वं ततो जायते।
द्वित्वत्वप्रमितिस्ततो नु परतो द्वित्वप्रमाऽनन्तरं
द्वे द्रव्ये इति धीरियं निगदिता द्वित्वोदयप्रक्रिया ॥इति।

सबसे पहले इन्द्रियों के साथ वस्तु (object) का संनिकर्ष (संबंध) होता है (**प्रथम क्षण** में दो घटों के साथ चक्षुओं का संबंध होता है)। उसके बाद **दूसरे क्षण में** एकत्व की जाति का ज्ञान होता है। **तीसरे क्षण** में अपेक्षाबुद्धि होती है [कि यह एक घट है, यह दूसरा]। **चौथे क्षण** में द्वित्व की उत्पत्ति होती है (= वस्तु में द्वित्व संख्या का बोध होता है)। **पाँचवें क्षण** में द्वित्वत्व की जाति का ज्ञान होता है। [चूँकि जाति का ज्ञान होने पर व्यक्ति का ज्ञान होता है इसीलिए अब] **छठे क्षण** में द्वित्व संख्या (गुण के रूप में) का ज्ञान होता है। इसके बाद, **सातवें क्षण** में 'ये दो द्रव्य हैं' इस

प्रकार [द्वित्व-संख्या से विशिष्ट द्रव्य] का ज्ञान होता है। अन्त में आत्मा में उक्त ज्ञान से संस्कार उत्पन्न होता है। [इन आठों क्षणों में उत्पन्न पदार्थों में पहलेवाला पदार्थ दूसरे का कारण होता है। बौद्धों के द्वादश निदान की तरह ये शृंखलाबद्ध हैं। इसीलिए इन्हें इस क्रम में बाँधा गया है।]

यही कहा गया है—"सबसे पहले इन्द्रियों के साथ [वस्तु का] सन्निकर्ष होना, फिर एकत्व की जाति की बुद्धि (ज्ञान) होना, फिर दोनों वस्तुओं में एकत्व का अलग-अलग बोध कराने वाली बुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) की उत्पत्ति, फिर द्वित्व की उत्पत्ति, उसके बाद द्वित्वत्व का ज्ञान, उसके बाद द्वित्व का ज्ञान, तब दो द्रव्यों की बुद्धि होना, [फिर द्वित्व का संस्कार]—इस प्रकार द्वित्व की उत्पत्ति की विधि बतलाई गई है।"

द्वित्वादेरपेक्षाबुद्धिजन्यत्वे किं प्रमाणम्? अत्राहुराचार्याः—अपेक्षाबुद्धिर्द्वित्वादेरुत्पादिका भवितुमर्हति। व्यञ्जकत्वानुपपत्तौ तेनानुविधीयमानत्वात्। शब्दं प्रति संयोगवदिति। वयं तु ब्रूमः—द्वित्वादिकमेकत्वद्वयविषयानित्यबुद्धिव्यङ्ग्यं न भवति। अनेकाश्रितगुणत्वात् पृथक्त्वादिवदिति।

अब प्रश्न हो सकता है कि क्या प्रमाण है कि द्वित्व आदि की उत्पत्ति अपेक्षाबुद्धि से होती है? इसके उत्तर में आचार्य (उदयन) कहते हैं कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि को उत्पन्न करने में समर्थ है। जब अपेक्षाबुद्धि को द्वित्वादि का व्यंजक सिद्ध नहीं कर पाते तब इस द्वित्वादि के द्वारा ही अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा (अनुविधान) की जाती है। जिस प्रकार शब्द के द्वारा अपेक्षित कंठादि स्थानों में संयोग होने से शब्द की उत्पत्ति होती है। [इस अत्यन्त संक्षिप्त उत्तर को यों समझें—जिस प्रकार व्यंग्य-अर्थ व्यंजक शब्द की अपेक्षा रखता है उसी प्रकार उत्पाद्य अर्थ भी उत्पादक की अपेक्षा करता है। यहाँ पर द्वित्वादि संख्या अपेक्षाबुद्धि की अपेक्षा रखती है। पहले ही आघात में मीमांसकों की यह मान्यता काट देते हैं कि अपेक्षाबुद्धि द्वित्वादि का व्यंजक है। ऐसा तभी होता जब अपेक्षाबुद्धि के पूर्व द्वित्वादि की सत्ता सिद्ध होती, परन्तु उसके लिए तो कोई प्रमाण ही नहीं है। तो, अपेक्षाबुद्धि की व्यंजकता सिद्ध नहीं होती। अब अपेक्ष्यमाणता (अपेक्षा) माननी पड़ेगी।* जहाँ-जहाँ अपेक्षा होती है वहाँ-वहाँ उत्पादकता रहती है (जिसकी अपेक्षा होगी, वह उत्पादक होगा)। उदा-

* सभी कारण या तो ज्ञापक होते हैं या जनक। अपेक्षाबुद्धि यदि ज्ञापक नहीं है, तो जनक है।

हरणार्थ शब्द के द्वारा संयोग की अपेक्षा की जाती है कि कंठ-तालु आदि स्थानों में वायु का संयोग हो तो शब्द उत्पन्न होगा। यहाँ संयोग शब्द का उत्पादक है। इसी अनुमान से, द्वित्वादि संख्या के लिए अपेक्षाबुद्धि की आवश्यकता होने के कारण, द्वित्वादि की उत्पादक अपेक्षाबुद्धि की सिद्धि होती है। अभिप्राय स्पष्ट है, अब दूसरे तर्कों से उसी बात की सिद्धि की जायगी।]

हमारा यह कहना है—द्वित्व आदि की अभिव्यक्ति उस अनित्य बुद्धि (अपेक्षाबुद्धि) के द्वारा नहीं हो सकती जिसमें दो या उससे अधिक एकत्व ही विषय के रूप में आते हैं क्योंकि ये (द्वित्वादि) अनेक पदार्थों में आश्रित रहने वाले गुण हैं जिस तरह पृथक्त्व गुण [अनेक पदार्थों में ही रहता है।]

विशेष—इस दूसरे तर्क का यह अभिप्राय है। दो एकत्वों के विषय में अपेक्षाबुद्धि होती है कि एक यह है, एक यह। यह अपेक्षाबुद्धि अनित्य है। चूँकि द्वित्व अनेक पदार्थों में रहनेवाला गुण है इसलिए अपेक्षाबुद्धि के द्वारा इनकी अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अभिव्यक्ति के लिए वस्तु का एकाश्रित रहना जरूरी है। द्वित्व-संख्या दो पदार्थों में रहती है, त्रित्व-संख्या तीन पदार्थों में रहती है इत्यादि। जैसे पृथक्त्व-गुण के लिए अनेक पदार्थों में रहना आवश्यक है—'हरि से श्याम पृथक् है, श्याम से शंकर।' इन उदाहरणों में पृथक्त्व (Separateness) की वृत्ति अनेक व्यक्तियों में है। इस प्रकार पृथक्त्व के विषय में होनेवाली अपेक्षाबुद्धि के द्वारा पृथक्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती। जब कोई वस्तु व्यंग्य नहीं है, तो जन्य होगी। निष्कर्ष यह हुआ कि **अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व आदि की उत्पत्ति होती है।**

(९ ख. द्वित्व की निवृत्ति का क्रम)

निवृत्तिक्रमो निरूप्यते—अपेक्षाबुद्धित एकत्वसामान्यज्ञानस्य द्वित्वोत्पत्तिसमकालं निवृत्तिः। अपेक्षाबुद्धेर्द्वित्वत्वसामान्यज्ञानाद् द्वित्वगुणबुद्धिसमसमयम्। द्वित्वस्यापेक्षाबुद्धिनिवृत्तेर्द्रव्यबुद्धिसमकालम्। गुणबुद्धेर्द्रव्यबुद्धितः संस्कारोत्पत्तिसमकालम्। द्रव्यबुद्धेस्तदनन्तरं संस्कारादिति।

अब द्वित्व की निवृत्ति का क्रम निरूपित किया जाता है। [तृतीय क्षण में उत्पन्न होनेवाली] अपेक्षाबुद्धि से जो [**चतुर्थ क्षण में**] द्वित्व की उत्पत्ति होती है उसी के साथ-साथ [द्वितीय क्षण में उत्पन्न हुए] एकत्व के सामान्य के ज्ञान की निवृत्ति (विनाश) हो जाती है (अर्थात् अपेक्षाबुद्धि एक ओर द्वित्व

की उत्पत्ति करती है और दूसरी ओर एकत्व-जाति के ज्ञान का विनाश करती है।)

[पंचम क्षण में उत्पन्न होनेवाले] द्वित्वत्व की जाति के ज्ञान से जब [**षष्ठ क्षण में**] द्वित्व संख्या का ज्ञान उत्पन्न होता है ठीक उसी समय [तृतीय क्षण में उत्पन्न हुई] अपेक्षाबुद्धि का विनाश हो जाता है। अपेक्षाबुद्धि के विनाश (षष्ठ क्षण) के बाद [**सप्तम क्षण में**] जो 'ये दो द्रव्य हैं' ऐसा ज्ञान होता है उसी के साथ द्वित्व-संख्या का विनाश होता है (क्योंकि द्वित्व संख्या के कारणस्वरूप अपेक्षाबुद्धि का विनाश इसके पूर्व ही हो चुका रहता है)। द्रव्य का ज्ञान हो जाने (सप्तम क्षण) के बाद जब [**अष्टम क्षण में**] संस्कार की उत्पत्ति होती है ठीक उसी समय द्वित्व-संख्या के ज्ञान का भी विनाश हो जाता है। इसके बाद [अष्टम क्षण में उत्पन्न] संस्कार के बाद (= नवें क्षण में) दो द्रव्यों का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। (इस प्रकार द्वित्वादि का क्रमशः विनाश होता है।]

तथा च संग्रहश्लोकाः—

५. आदावपेक्षाबुद्ध्या हि नश्येदेकत्वजातिधीः।
द्वित्वोदयसमं, पश्चात् सा च तज्जातिबुद्धितः॥

६. द्वित्वाख्यगुणधीकाले, ततो द्वित्वं निवर्तते।
अपेक्षाबुद्धिनाशेन द्रव्यधीजन्मकालतः॥

७. गुणबुद्धिर्द्रव्यबुद्ध्या संस्कारोत्पत्तिकालतः।
द्रव्यबुद्धिश्च संस्कारादिति नाशक्रमो मतः॥ इति।

उपर्युक्त बातों का संग्रह इन श्लोकों में हुआ है—"सबसे पहले अपेक्षाबुद्धि से द्वित्व की उत्पत्ति होने के साथ-ही-साथ एकत्व-जाति का ज्ञान नष्ट हो जाता है। उसके बाद उस द्वित्व की जाति (अर्थात् द्वित्वत्व) के ज्ञान से जिस समय द्वित्व नामक गुण (संख्या) का ज्ञान होता है उसी समय उस (अपेक्षाबुद्धि) का भी विनाश हो जाता है। तदनन्तर अपेक्षाबुद्धि के नाश के बाद दो द्रव्यों के ज्ञान के उत्पन्न होने के ही समय द्वित्व की निवृत्ति हो जाती है। द्रव्यों की बुद्धि (ज्ञान) के बाद संस्कार की उत्पत्ति के समय ही द्वित्व-संख्या (गुण) की बुद्धि का नाश होता है और संस्कार के अनन्तर दो द्रव्यों की बुद्धि का नाश होता है—यही नाश का क्रम निरूपित किया गया है।"

विशेष—निम्नलिखित पाटी से द्वित्वों के उदय और विनाश का क्रम अच्छी तरह समझा जा सकता है।—

क्षण	उदय	विनाश	(उदय क्षण)
प्रथम	इन्द्रियार्थसंनिकर्ष	×	
द्वितीय	एकत्व-जाति का ज्ञान	×	
तृतीय	अपेक्षाबुद्धि	×	
चतुर्थ	द्वित्व की उत्पत्ति	एकत्वजाति का ज्ञान	(२)
पंचम	द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान	×	
षष्ठ	द्वित्व-संख्या का ज्ञान	अपेक्षाबुद्धि	(३)
सप्तम	दो द्रव्यों का ज्ञान	द्वित्वसंख्या	(४)
अष्टम	संस्कार	द्वित्वसंख्या का ज्ञान	(६)
नवम	×	द्रव्यों का ज्ञान	(७)

अब इन ज्ञानों के विनाश के लिए प्रमाण दिये जा रहे हैं जिनसे द्वित्व की निवृत्ति की पुष्टि हो सके।

बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरविनाश्यत्वे संस्कारविनाश्यत्वे च प्रमाणम्—विवादाध्यासितानि ज्ञानान्युत्तरोत्तरकार्यविनाश्यानि क्षणिकविभुविशेषगुणत्वाच्छब्दवत् । क्वचिद् द्रव्यारम्भकसंयोगप्रतिद्वन्द्विविभागजनककर्मसमकालमेकत्वसमकालचिन्तयाऽऽश्रयनिवृत्तेरेव द्वित्वनिवृत्तिः । कर्मसमकालमपेक्षाबुद्धिचिन्तनादुभाभ्यामिति संक्षेपः ।

अब इसके लिए प्रमाण दिया जा रहा है कि एक बुद्धि (ज्ञान) का विनाश दूसरी बुद्धि (ज्ञान) से या संस्कार के द्वारा होता है। इस स्थान पर जिनकी बात चल रही है वे (प्रस्तुत, विवादग्रस्त, under question) ज्ञान उत्तरोत्तर कार्यों के द्वारा क्रमशः नष्ट होते जाते हैं। कारण यह है कि शब्द की भाँति, विभु द्रव्यों के विशेष गुण क्षणिक हुआ करते हैं। [आकाश विभु द्रव्य है, इसका विशेष गुण शब्द है जो क्षणिक है। यह क्षणिक शब्द अपनी उत्पत्ति के दूसरे क्षण में अपने ही सदृश दूसरे शब्द को उत्पन्न करके स्वयं तीसरे क्षण में नष्ट हो जाता है। तो निष्कर्ष यह निकलता है कि प्रथम क्षण वाले शब्द के द्वारा द्वितीय क्षण में उत्पन्न शब्द कार्य हुआ, प्रथम क्षण वाला शब्द कारण है—वही कार्यरूप में विद्यमान द्वितीय क्षण वाला शब्द प्रथम क्षण वाले

कारणभूत शब्द का विनाशक हो जाता है। कारण का नाश कार्य ही करता है, पिता का वध पुत्र के ही हाथों से होता है। ठीक इसी प्रकार प्रथम क्षण में उत्पन्न ज्ञान द्वितीय क्षण में दूसरे ज्ञान को या संस्कार को उत्पन्न करता है और बदले में उत्तरवर्ती कार्यरूप ज्ञान या संस्कार अपने उत्पादक का ही विनाश कर डालता है। इसलिए ज्ञान को ज्ञान ही खा जाता है।]

[ऊपर यह कह चुके हैं कि अपेक्षाबुद्धि का नाश हो जाने पर द्वित्व का नाश हो जाता है। अब द्वित्वनाश की एक दूसरी विधि भी देखें—] कहीं-कहीं किसी द्रव्य (जैसे घट) को आरंभ करने वाले संयोग (= अवयवों का संयोग) के विनाशक (प्रतिद्वन्द्वी) विभाग (Disjunction) को उत्पन्न करने वाले कर्म के आने के समय में ही एकत्व-जाति की चिन्ता (ज्ञान) होती है और तब आश्रय घट का विनाश हो जाने से द्वित्व का भी नाश हो जाता है। [वस्तु] के अवयवों का विभाग करने वाला कर्म अपनी उत्पत्ति के चतुर्थ क्षण में वस्तु का नाश करता है। प्रथम क्षण में वह कर्म उत्पन्न होता है। उसी कर्म से दूसरे क्षण में वस्तु के अवयवों का विभाग होता है। तीसरे क्षण में अवयवों के संयोग का विनाश होता है। चौथे क्षण में वस्तु (घट) का ही विनाश हो जाता है। द्वित्व की उत्पत्ति का विचार करते हुए हमने आठ क्षण देखे थे जिनमें द्वितीय क्षण में एकत्व की जाति का ज्ञान उत्पन्न होता है जो अपेक्षाबुद्धि को तृतीय क्षण में उत्पन्न करता है। यह एकत्वजातिज्ञान यदि घट का विनाश करने वाले चार क्षणों के मध्य प्रथम क्षण में हो तब स्वभावतः द्वितीय क्षण में अर्थात् विभाग के समय अपेक्षाबुद्धि की उत्पत्ति होगी। उसके बाद तृतीय क्षण में संयोग का नाश होने के समय द्वित्व की उत्पत्ति होगी। चतुर्थ क्षण में (वस्तु का नाश होने के क्षण में) द्वित्वत्व-जाति का ज्ञान होगा। इसी क्षण में घट-रूपी आश्रय (आधार) के नाश के कारण इसके बाद वाले क्षण में दो घटों में विद्यमान द्वित्व का विनाश हो जाता है क्योंकि घट (द्रव्य) के नाश के अनन्तर उसमें स्थित द्वित्व (गुण) का स्थित रहना असंभव है। इस प्रक्रिया में अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वनाश नहीं होता, क्योंकि द्वित्वनाश के पूर्व अपेक्षाबुद्धि के विनाश की कोई बात ही नहीं चलती।]

[मूल में जो 'एकत्वसामान्यचिन्ता' पद है, उसका अर्थ है एकत्व-जाति का ज्ञान। अब इस एकत्वजातिज्ञान को यदि आप पहले ही रख लें—विभाग-जनक कर्म के पहले ही एकत्व जाति का ज्ञान हो जाय तब स्वभावतः उसके बाद आने वाली अपेक्षाबुद्धि प्रथम क्षण में ही (विभागोत्पादक कर्म के समय में ही) उत्पन्न होगी। द्वितीय क्षण में (विभाग के समय) द्वित्व की उत्पत्ति

तथा तृतीय क्षण में (संयोगनाश के समय) द्वित्वजाति का ज्ञान होगा ; चतुर्थ क्षण में (घटनाश के समय) अपेक्षाबुद्धि का विनाश होगा। इस क्षण में (चतुर्थ क्षण में) घट-रूपी आश्रय का नाश तथा अपेक्षाबुद्धि का नाश दोनों कारणों से उसके उत्तर क्षण में द्वित्व का नाश होता है। इसे ही कहा जा रहा है—] और यदि विभागजनक कर्म के क्षण में ही अपेक्षाबुद्धि की चिन्ता (उत्पत्ति) करें तो दोनों कारणों से द्वित्व का नाश हो सकता है—यही संक्षेप में [द्वित्व का विचार हो गया।]

विशेष—उपर्युक्त दोनों कारणों का अन्तर इतना ही है कि अपेक्षाबुद्धि की सत्ता कहाँ मानें। यदि अपेक्षाबुद्धि द्वितीय क्षण में (विभाग के समय) मानते हैं तो अपेक्षाबुद्धि के नाश के ही समय द्वित्व का नाश हो जाता है उस समय अपेक्षाबुद्धिनाश कारण नहीं हो सकता क्योंकि कारण को कार्य के पूर्व ही रहना चाहिए, समकाल नहीं। निदान हमें आधारनाश से द्वित्वनाश मानना पड़ेगा। दूसरी ओर यदि सारी प्रक्रिया एक सीढ़ी ऊपर खिसक जाय तथा अपेक्षाबुद्धि को द्वितीय क्षण में न मानकर प्रथम क्षण में स्वीकार कर लें तो चतुर्थ क्षण में उसका नाश हो जायगा और वह नाश आराम से उत्तरवर्ती क्षण में होने वाले द्वित्वनाश का कारण बन जायगा। इसे निम्न पाटी से समझ सकते हैं :—

क्षण	कार्यचतुष्टय	द्वित्वनाश की प्रक्रिया सं० (१)	द्वित्वनाश की प्रक्रिया सं० (२)
१.	विभागजनक कर्म	एकत्वजातिज्ञान (२)	अपेक्षाबुद्धि (३)
२.	विभाग	अपेक्षाबुद्धि (३)	द्वित्वोत्पत्ति (४)
३.	संयोगनाश	द्वित्वोत्पत्ति (४)	द्वित्वत्वजातिज्ञान (५)
४.	घटनाश	द्वित्वत्वजातिज्ञान (५)	अपेक्षाबुद्धिनाश (६)
५.	(आधारनाश से)	द्वित्वनाश, अपेक्षा-बुद्धिनाश (६)	द्वित्वनाश (७)

कोष्ठकों में निर्दिष्ट अंक यह सूचित करते हैं कि पूर्वोक्त आठ क्षणोंवाली प्रक्रिया में इन कार्यों का कौन-सा स्थान था। प्रस्तुत प्रक्रिया सं० १ में द्वित्व-नाश का कारण घटनाश अर्थात् आधारनाश है जब कि प्रक्रिया सं० २ में पहले की भाँति अपेक्षाबुद्धि के विनाश से ही द्वित्व का विनाश माना जाता है। वास्तव में नवीनता प्रक्रिया सं० १ में ही है।

अब अपेक्षाबुद्धि का लक्षण देकर द्वित्व का प्रकरण समाप्त किया जायगा।

(९ ग. अपेक्षाबुद्धि का लक्षण)

अपेक्षाबुद्धिर्नाम विनाशकविनाशप्रतियोगिनी बुद्धिरिति बोद्धव्यम् ।

अपेक्षाबुद्धि उस बुद्धि को कहते हैं जिसका विनाश [द्वित्व संख्या का] विनाशक हो। [तात्पर्य यह है कि अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वसंख्या का नाश होता है—दोनों के विनाशों में कार्यकारण का सम्बन्ध है। अब, यदि अपेक्षाबुद्धि के नाश से द्वित्वसंख्या का नाश होता है तब तो अपेक्षाबुद्धि अपने नाश की प्रतियोगिनी हुई। नाश धर्मी है, अपेक्षाबुद्धि प्रतियोगिनी है। इसी को कहा गया है कि **अपेक्षाबुद्धि द्वित्वसंख्या को नष्ट करने वाले विनाश की प्रतियोगिनी बुद्धि है।**]

विशेष—इसमें अन्तर्भूत पदों पर विचार करने से यह मालूम होता है कि यदि लक्षण से 'विनाशक' पद हटा दें तो जीव की बुद्धि में अतिव्याप्ति हो जायगी। कारण यह है कि जब हम कहते हैं 'यह घट है' तो इस बुद्धि का भी तृतीय क्षण में विनाश हो ही जाता है—यह बुद्धि भी विनाश की प्रतियोगिनी है, इसलिए 'यह घट है' इस ज्ञान को भी अपेक्षाबुद्धि कहने लगेंगे। इसलिए अतिव्याप्ति रोकने के लिए 'विनाशक' पद का प्रयोग हुआ है। वैसा करने से घट-ज्ञान का नाश होने पर किसी दूसरे का विनाश नहीं होता—इसलिए घट-ज्ञान का नाश किसी का विनाशक नहीं है। द्वित्व का नाश अपेक्षाबुद्धि के ही नाश से सम्भव है।

वैशेषिकों का यह मत दिखलाया गया है कि द्वित्व अपेक्षाबुद्धि से उत्पन्न होता है। नैयायिक भी इसी को स्वीकार करते हैं किन्तु इसमें उनकी विशेष रुचि नहीं, विशेष पर वैशेषिक का ही आग्रह है। कुछ लोग जो यह शंका करते हैं कि वैशेषिकों का द्वित्व अपेक्षाबुद्धि से व्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं—यह बिल्कुल निरर्थक है।

भाषा-परिच्छेद (गुणखंड, १०९) में अपेक्षाबुद्धि का लक्षण देते हुए विश्वनाथ कहते हैं—**अनेकैकत्वबुद्धिर्या साऽपेक्षाबुद्धिरुच्यते** अर्थात् अपेक्षाबुद्धि उसे कहते हैं जो अनेकत्व में एकत्व का अवगाहन कराये जैसे 'अयम् एकः, अयम् एकः'। मुक्तावली में प्रस्तुत प्रसंग को इस रूप में व्यक्त किया गया है—'न चापेक्षाबुद्धिनाशात्कथं द्वित्वनाश इति वाच्यम्। कालान्तरे द्वित्वप्रत्यक्षाभावात् अपेक्षाबुद्धिस्तदुत्पादिका तन्नाशस्तन्नाशक इति कल्पनात्।' पूर्व पक्षवाले शंका करते हैं कि अपेक्षाबुद्धि के विनाश के बाद द्वित्व का नाश कैसे होता है? उत्तर

यह है कि जब अपेक्षाबुद्धि नहीं रहती तब द्वित्व आदि धर्मों का प्रत्यक्षीकरण नहीं होता, इसलिए ऐसा निश्चय होता है कि अपेक्षाबुद्धि ही उन्हें उत्पन्न करती है और अपेक्षाबुद्धि के विनाश से उन द्वित्वादि धर्मों का भी विनाश हो जाता है।

द्वित्वादि के कारण के रूप में अपेक्षाबुद्धि किस प्रकार की कब होती है, इस पर विचार करते हुए मुक्तावली में लिखा है कि द्व्यणुकादि पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता। उनमें द्वित्व के ज्ञान के लिए योगियों की अपेक्षा-बुद्धि काम देती है। सृष्टि के आदि-काल में जो परमाणु आदि हैं उनमें द्वित्व के कारण के रूप में या तो ईश्वर की अपेक्षाबुद्धि काम में आती है या दूसरे ब्रह्माण्ड (जिस ब्रह्माण्ड की सृष्टि हो रही है उससे किसी भिन्न ब्रह्माण्ड) में विद्यमान योगियों की अपेक्षाबुद्धि काम देती है। (मुक्तावली, वहीं)।

(१०. पाकज पदार्थ की उत्पत्ति)

अथ द्व्यणुकनाशमारभ्य कतिभिः क्षणैः पुनरन्यद् द्व्यणुकमुत्पद्य रूपादिमद्भवतीति जिज्ञासायामुत्पत्तिप्रकारः कथ्यते—नोदनादिक्रमेण द्व्यणुकनाशः। नष्टे द्व्यणुके परमाणावग्निसंयोगाच्छ्यामादीनां निवृत्तिः। निवृत्तेषु श्यामादिषु पुनरन्यस्मादग्निसंयोगाद् रक्तादीनामुत्पत्तिः।

अब यह प्रश्न होता है कि एक द्व्यणुक का नाश होने पर, कितने क्षणों के बाद फिर दूसरा द्व्यणुक उत्पन्न होकर रूप-रस आदि से युक्त होता है। इस जिज्ञासा के उत्तर में अब हम द्व्यणुक की उत्पत्ति की रूपरेखा (प्रकार) प्रस्तुत करते हैं।

(१) सबसे पहले नोदन (संयोग, अग्नि-संयोग, √नुद् = प्रेरणा, Motion) आदि के क्रम से* द्व्यणुक (दो अणुओं के सम्मिलित रूप) का नाश होता है। (२) द्व्यणुक के नष्ट हो जाने पर परमाणु में अग्नि-संयोग होता है जिससे श्याम आदि गुणों की निवृत्ति (नाश) होती है। (३) अब श्याम आदि

* अग्निसंयोग (नोदन) से घट के अणुओं में क्रिया उत्पन्न होती है, तब एक अणु से दूसरे अणु का पृथक्करण (Separation) होता है। फिर कृष्ण (कच्चा) घट का निर्माण करने वाले अणुओं के संयोग का नाश होता है और अन्त में द्व्यणुक का विनाश होता है। यह द्व्यणुक नष्ट होने पर पुनः नवम क्षण में दूसरा द्व्यणुक दूसरे रूप का उत्पन्न करता है।

भूतपूर्व गुणों के हट जाने पर उस परमाणु में पुनः अग्नि-संयोग होता है जिससे रक्त आदि गुणों की उत्पत्ति होती है।

विशेष—'पाक' का अर्थ है तेजःसयोग। अग्नि के साथ संयोग होने पर द्रव्यों में रूप, रस, गन्ध और स्पर्श का अन्तर या परिवर्तन होता है। कच्चा घड़ा काला है किन्तु जब उसमें अग्नि का संयोग होगा तब वह लाल हो जायगा। आम, अमरूद आदि के हरे फलों में तेज के संयोग से पीलापन आ जाता है—यह रूप का परिवर्तन है। कच्चा फल स्वाद (रस) में खट्टा, गन्ध में दूसरी तरह का तथा स्पर्श में कड़ा लगता है जब कि अग्नि-संयोग (धूप से) हो जाने पर जब वह पक जाता है तब उसमें मधुरता, सुगन्ध तथा कोमलता आ जाती है। इसी तरह से द्रव्यों में रूपादि चार गुणों का पाकजत्व देखा जाता है, किन्तु स्मरणीय है कि नव द्रव्यों में केवल पृथ्वी में ही यह पाकजत्व होता है—'एतेषां पाकजत्वं तु क्षितौ नान्यत्र कुत्रचित्' (भा० प० १०५)। जलादि द्रव्यों में पाकजत्व नहीं होता।

अब प्रश्न यह है कि पाक होता किसका है—परमाणुओं का या पूरे द्रव्य (पिण्ड) का ? वैशेषिक कहते हैं कि परमाणुओं में ही पाकज गुणों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का परावर्तन होता है—तत्रापि परमाणौ स्यात्पाको वैशेषिके नये (भा० प० १०५)। उनके सिद्धान्त को **पीलुपाक-प्रक्रिया** कहते हैं क्योंकि 'पीलु' का अर्थ परमाणु होता है। दूसरी ओर, नैयायिकों की मान्यता है कि पिण्ड में ही रूपादि का परावर्तन होता है। अवयव और अवयवी (जैसे घट) का नित्य संबंध होने के कारण दोनों का एक साथ विनाश और एक ही साथ उदय होता है। अतः पूर्वरूप आदि का नाश या विकास अवयवी (पिण्ड) से संबद्ध है। नैयायिकों का सिद्धान्त **पिठरपाक-प्रक्रिया** के नाम से प्रसिद्ध है (पिठर = पिण्ड या अवयवी जैसे घट)।

प्रस्तुत प्रसंग में वैशेषिकों की पीलुपाक-प्रक्रिया ही महत्त्वपूर्ण है। अतः उसीका विश्लेषण समीचीन है। सामान्यतः तेजःसंयोग के कारण घट के अवयवों या कपालों (घट के टुकड़ों) के पारस्परिक वियोग से घट (अवयवी) का नाश होता है। इन कपालों के भी अवयवों के वियोग या विनाश से इनका नाश होता है। इस प्रकार का नाश त्र्यणुक तक ही होता है। द्व्यणुक का नाश इसके अवयवों के नाश से नहीं होता, प्रत्युत दो परमाणुओं के पारस्परिक वियोग से होता है क्योंकि परमाणु नित्य होने के कारण नष्ट नहीं हो सकते। हाँ, एक दूसरे से वे पृथक् हो सकते हैं। अब इन परमाणुओं के पृथक् होने से इनके पहले के रूप, रस आदि गुण नष्ट हो जाते हैं तथा दूसरे

हो रूप, रस आदि उत्पन्न होते हैं। अब इन परमाणुओं से क्रमशः द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के क्रम से नवीन घट उत्पन्न होता है।

मुक्तावली (भा० प० १०५ की टीका) में इस प्रकार कहा गया है— 'पृथिवी-द्रव्य में भी केवल परमाणु में ही पाक होता है, ऐसा वैशेषिक लोग कहते हैं। उनका यह अभिप्राय है—अवयवी (घट) के द्वारा निरुद्ध (संबद्ध) अवयवों में पाक का होना [संभव] नहीं। हाँ, अग्नि के संयोग से अवयवियों के नष्ट हो जाने पर प्रत्येक अवयव के स्वतंत्र परमाणुओं में पाक होता है। फिर पक्व (पाक होने के बाद, तेजःसंयोग से रूपादि-परावृत्ति होने पर) परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि के क्रम से महान् अवयवी (= घट) पर्यन्त उत्पत्ति होती है। अग्नि-पदार्थ में अतिशय वेग होने के कारण पहले के व्यूह (अवयव-समूह के रूप में घट) का नाश होकर तुरन्त दूसरे व्यूह की उत्पत्ति हो जाती है।'

एक द्व्यणुक का नाश होने पर दूसरा द्व्यणुक कितने क्षणों में उत्पन्न होता है, इस प्रश्न को लेकर वैशेषिकों के यहाँ **क्षणप्रक्रिया** चलती है। विभागज विभाग को स्वीकार करने पर इसमें दस क्षण लगते हैं किन्तु उसे अस्वीकार करें तो केवल नव क्षणों में काम हो जाता है। कुछ दूसरे मतों से इसमें पाँच, छह, सात, आठ या ग्यारह क्षण भी होते हैं। उन सबों का विवेचन मुक्तावली के उपर्युक्त स्थल पर हुआ है।

इस स्थान पर नवक्षण प्रक्रिया की चर्चा चल रही है। ऊपर तीन क्षण हम देख चुके हैं। चौथे क्षण के लिए आगे देखें।

उत्पन्नेषु रक्तादिषु अदृष्टवदात्मसंयोगात्परमाणौ द्रव्यारम्भणाय क्रिया। तया पूर्वदेशाद्विभागः। विभागेन पूर्वदेशसंयोगनिवृत्तिः। तस्मिन्निवृत्ते परमाण्वन्तरेण संयोगोत्पत्तिः। संयुक्ताभ्यां परमाणुभ्यां द्व्यणुकारम्भः। आरब्धे द्व्यणुके कारणगुणादिभ्यः कार्यगुणादीनां रूपादीनामुत्पत्तिरिति यथाक्रमं नव क्षणाः।

दशक्षणादिप्रकारान्तरं विस्तरभयान्नेह प्रतन्यते। इत्थं पीलुपाकप्रक्रिया। पिठरपाकप्रक्रिया नैयायिकधीसंमता।

(४) रक्त आदि गुणों के उत्पन्न हो जाने पर अदृष्ट (धर्म-अधर्म) से युक्त आत्मा के साथ संयोग होने पर परमाणु में द्रव्य का आरम्भ (उत्पादन)

करने के लिए क्रिया होती है। [चूँकि निर्गुण द्रव्य में क्रिया का रहना असंभव है इसलिए रक्तादि गुणों की उत्पत्ति के अनन्तर ही द्रव्यारम्भक क्रिया उत्पन्न होती है। अदृष्ट अर्थात् धर्म या अधर्म ही सभी पदार्थों का साधारण कारण है क्योंकि अदृष्ट के आश्रय जीव हैं जो विभु होने के कारण सभी कार्यों में अदृष्ट के साथ रहते हैं।] (५) इस क्रिया के द्वारा परमाणु का अपने पूर्व स्थान से विभाग (Disjunction) होता है। (६) विभाग होने पर परमाणु के पूर्व स्थान के साथ विद्यमान संयोग का विनाश होता है। (७) जब संयोग की निवृत्ति हो जाती है तब उस परमाणु का संयोग दूसरे परमाणु के साथ होता है। (८) दो परमाणुओं के संयुक्त होने से द्वयणुक (दो परमाणुओं का समाहार) का आरम्भ होता है और अन्त में (९) द्वयणुक का आरम्भ होने पर कारण के रूप में स्थित गुण आदि से कार्य के रूप में स्थित गुणादि, जैसे रूप, रस, गन्धादि, की उत्पत्ति होती है—इस प्रकार क्रमशः ये नौ क्षण होते हैं।

दस क्षण में होनेवाली या दूसरे प्रकार से (पाँच, छह आदि क्षणों में) होनेवाली प्रक्रियाओं का वर्णन विस्तार के भय से नहीं किया जा रहा है। अस्तु, इस प्रक्रिया को पीलुपाक-प्रक्रिया कहते हैं। नैयायिकों के द्वारा पिठर-पाक-प्रक्रिया स्वीकृत है। [इसकी रूपरेखा ऊपर की टिप्पणी में दी गई है।]*

(११. विभागज विभाग का विवेचन)

विभागजविभागो द्विविधः—कारणमात्रविभागजः कारणाकारणविभागजश्च। तत्र प्रथमः कथ्यते—कार्यव्याप्ते कारणे कर्मोत्पन्नं यदाऽवयवान्तराद्विभागं विधत्ते, न तदाऽऽकाशादिदेशाद्विभागः। यदा त्वाकाशादिदेशाद्विभागः, न तदाऽवयवान्तरादिति स्थितिनियमः।

विभाग से उत्पन्न होनेवाला विभाग दो प्रकार का है—(१) जो केवल

---

* पीलुपाक-प्रक्रिया में कच्चा घट जब पकाया जाता है तब उसका नाश ही हो जाता है क्योंकि इसके द्वयणुक आदि नष्ट हो जाते हैं। पाक (अग्नि-संयोग) से परमाणुओं में लाली आती है तथा घट पक कर लाल हो जाता है। क्रिया इतनी शीघ्र होती है कि घट के परिवर्तन को आँखें नहीं समझ पातीं। घट बदल जाता है। पिठरपाक-प्रक्रिया में अग्नि द्रव्य के अणुओं में सीधे प्रविष्ट हो जाती है तथा कच्चे घट का विनाश बिना किये ही अपना प्रभाव उन अणुओं पर व्यक्त करके उसी घट में गुण-परिवर्तन कर देती है।

कारण (उपादान कारण) के विभाग से उत्पन्न हो तथा (२) जो कारण और अकारण (स्थान) के विभाग से उत्पन्न हो। पहले हम प्रथम भेद का वर्णन करें।

कार्य (द्वयणुक) के द्वारा व्याप्त कारण (परमाणु) में जो कर्म (क्रिया) उत्पन्न होता है वह जब दूसरे अवयवों से विभाग धारण करता है, उस समय आकाश आदि देशों (Place) से विभाग नहीं होता। दूसरी ओर जब उसमें आकाश आदि देशों से विभाग किया जाता है तब दूसरे अवयवों से विभाग नहीं होता—यह एक स्थिर नियम है।

विशेष—वैशेषिकों के द्वारा प्रदर्शित गुणों में एक गुण विभाग (Disjunction) है। यह तीन प्रकार से होता है—एक पदार्थ की क्रिया से उत्पन्न होने वाला विभाग, दोनों की क्रियाओं से होने वाला विभाग तथा विभाग से ही उत्पन्न होने वाला विभाग। इनके उदाहरण क्रमश यों हैं—श्येन पक्षी से पर्वत का विभाग (एक-क्रियाजन्य विभाग), दो मेषों (भेंड़ों) का विभाग (उभयक्रियाजन्य) तथा कपाल (घड़े के टुकड़े) और वृक्ष का विभाग करने से घट और वृक्ष का विभाग करना (विभागज विभाग)। विभागज विभाग में भी दो द्रव्यों का पृथक्करण होता है किन्तु उनमें पहले एक और विभाग हो जाता है। एक वस्तु (धर्मी) के अवयवों के साथ दूसरी वस्तु (प्रतियोगी) का विभाग कर लेने पर उसी के आधार पर पूरे धर्मी के साथ प्रतियोगी का विभाग मानते हैं। नैयायिक इस प्रकार का विभाग स्वीकार नहीं करते।

इस विभागज विभाग के दो भेद हैं—

विभागजस्तृतीयः स्यात्तृतीयोऽपि द्विधा भवेत्।
हेतुमात्रविभागोत्थो हेत्वहेतुविभागजः ॥ (भा० प० १२०)।

सिद्धान्तमुक्तावली में इसकी विवेचना बहुत सरल और संक्षिप्त रूप से हुई है।

१. **कारणमात्र विभागजन्य**—पहले कपाल में क्रिया उत्पन्न होती है, फिर दो कपालों का विभाग होता है, फिर घट का आरंभ करने वाले संयोग का नाश होता है, फिर घट का नाश होता है। अब उसी कपाल-विभाग के द्वारा पूर्वोक्त क्रियायुक्त कपाल का आकाश के साथ विभाग उत्पन्न होता है। पुनः आकाशसंयोग का नाश और तब उत्तर देश के साथ कपाल के संयोग का नाश होकर अंत में कर्म का नाश होता है। तात्पर्य यह निकला कि कर्म पहले एक प्रकार का विभाग (कपालद्वय-विभाग) उत्पन्न कर देता है—तब इस विभाग के द्वारा दूसरा विभाग (आकाश अर्थात् स्थान से कपाल का विभाग) उत्पन्न होता है। इस प्रक्रिया में दो विभाग हुए—१. अवयवों से विभाग तथा

२. देशान्तर (दूसरे स्थान) से विभाग। ये दोनों एक साथ नहीं रहते। केवल पूर्वापर का ही नहीं, इन दोनों के बीच कुछ क्षणों का भी अन्तर है।

हम ऐसी शंका नहीं कर सकते कि जिस पहले कर्म से दो अवयवों का विभाग किया गया है उसीसे कपाल का आकाश या देशान्तर के साथ विभाग उत्पन्न होना क्यों नहीं मान लेते हैं? कारण यह है कि एक ही कर्म आरंभक (उत्पादक) संयोग के विरोध में खड़े होने वाले विभाग को तथा अनारंभक संयोग के विरोधी विभाग को—दोनों को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि दोनों प्रकार के विभागों को उत्पन्न करने वाली क्रिया को हम एक ही समझने की भूल करें तो खिलते हुए कमल की कलिका के टूट जाने की भी संभावना करनी पड़ेगी (विकसत्कमलकुड्मलभङ्गप्रसङ्गात्)। कमल के खिलने के समय जो कर्म उसमें उत्पन्न होता है, वह उस विभाग को उत्पन्न करता है जो कमल के अनारंभक आकाश-प्रदेश के साथ उसके संयोग का विरोधी है। यदि वह कर्म अब कमल के आरंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करे तो कमल का विनाश निश्चित है। आरंभक संयोग विनाश पर ही आधारित होता है। फल यह निकला कि जो कर्म अनारंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, वह आरंभक संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न नहीं करता। जो कर्म दूसरे अवयवों से अर्थात् **परमाणुओं से विभाग** (आरंभकसंयोगप्रतिद्वन्द्विभूतं विभागम्) उत्पन्न करता है, वह कर्म द्वयणुकों का आरंभ न करने वाले **आकाश-प्रदेश के साथ** होने वाले संयोग का विरोधी **विभाग** उत्पन्न नहीं करता। दोनों में से कोई एक ही क्रिया संभव है—दोनों प्रकारों के विभाग को उत्पन्न करने वाली क्रियायें दो हैं।

ऐसी भी शंका नहीं की जा सकती कि कारण-विभाग (अवयवों से विभाग) से ही, द्रव्य-नाश के पहले ही, देशान्तर (आकाश)-विभाग क्यों नहीं उत्पन्न होता? कारण यह है कि अवयव आरंभक-संयोग के विरोधी विभाग को उत्पन्न करता है, द्रव्य के होने पर (बिना द्रव्य-नाश के) देशान्तर से इसका विभाग होना असंभव है। अतः किसी भी दशा में अवयव-विभाग (कारण-विभाग) के होने के बाद ही देशान्तर-विभाग होता है।

२. कारणाकारण-विभागजन्य—हाथ में क्रिया उत्पन्न होने से हाथ और वृक्ष के बीच विभाग होता है, इसी से शरीर में भी 'विभक्त' (पृथक्) होने का ज्ञान होता है (स्मरणीय है कि विभाग के द्वारा दो द्रव्यों में विभक्त होने की प्रतीति होती है)। इस प्रकार हस्त-वृक्ष-विभाग (कार्य) के लिए हस्त-क्रिया कारण है। किन्तु यही हस्त-क्रिया शरीर और वृक्ष के विभाग का

कारण नहीं हो सकती क्योंकि दोनों का एक अधिकरण नहीं है। कार्य-कारण का संबंध समानाधिकरण पदार्थों का ही होता है। शरीर-क्रिया को भी शरीर और वृक्ष के विभाग का कारण नहीं मान सकते क्योंकि शरीर में क्रिया तो उस समय हुई ही नहीं। अवयवी (शरीर) के कर्म अवयवों (हाथ, पैर आदि) पर ही निर्भर करते हैं। सभी अवयवों में क्रिया होने पर ही शरीर की क्रिया मानी जाती है। ऐसे स्थलों में कारणाकारण-विभाग से कार्याकार्य-विभाग उत्पन्न होता है। हस्त-वृक्ष का विभाग (कारण) होने के बाद शरीर-वृक्ष का विभाग होता है—हस्त-वृक्ष का विभाग होने से शरीर में भी विभक्त प्रत्यय होता है।

इन सबों का विवेचन मुक्तावली के आधार पर किया गया है। सर्वदर्शन-संग्रह में भी प्रस्तुत प्रसंग में यह विषय आवेगा।

कर्मणो गगनविभागाकर्तृत्वस्य द्रव्यारम्भकसंयोगविरोधि-विभागारम्भकत्वेन धूमस्य धूमध्वजवर्गेणेव व्यभिचारानुपलम्भात्। ततश्चावयवकर्मावयवान्तरादेव विभागं करोति नाकाशादिदेशात्। तस्माद्विभागाद् द्रव्यारम्भकसंयोगनिवृत्तिः। ततः कारणाभावात्कार्याभाव इति न्यायादवयवनिवृत्तिः।

जिस प्रकार धूम का व्यभिचार धूमध्वज (अग्नि) के साथ कहीं प्राप्त नहीं होता (अग्नि के बिना धूम नहीं मिलता), ठीक उसी प्रकार कर्म (= घटध्वंस-कर्म) जिसे हम स्थान (space) के विचार से होनेवाले विभाग का कर्ता नहीं मानते (= स्थानजन्य विभाग का अनारंभक कर्म), द्रव्य का आरंभ करने वाले संयोग के विरोधी विभाग के उत्पादक के रूप में ही सदा रहता है, व्यभिचरित नहीं होता। [ऊपर कही गई बातों को ही इसमें फैलाया जा रहा है। स्थानगत विभाग को जो कर्म उत्पन्न नहीं करता, वही कर्म द्रव्यारंभक संयोग का विरोध करने वाले विभाग को उत्पन्न करता है—दोनों कर्मों में कार्य-कारण संबंध है। चूँकि संयोग और विभाग में सीधा विरोध है इसीलिए स्थान-स्थान पर 'संयोगप्रतिद्वन्द्विविभाग' की तरह की उक्तियाँ दी जाती हैं।]

इसलिए अवयवों का [घटध्वंस-रूपी] कर्म अपना विभाग दूसरे अवयवों से ही उत्पन्न करता है, आकाश आदि देशों (space) से नहीं। इस विभाग के बाद द्रव्य (घट) का आरंभ करने वाले संयोग की निवृत्ति होती है। उसके बाद, 'कारण का अभाव होने पर कार्य का अभाव होता है'—इस नियम से

[द्रव्यारंभक-संयोग-रूपी कारण के नष्ट हो जाने से उसके कार्य अर्थात्] अवयवी (घट) की भी निवृत्ति हो जाती है।

निवृत्तेऽवयविनि तत्कारणयोरवयवयोः वर्तमानो विभागः कार्यविनाशविशिष्टं कालं स्वतन्त्रं वावयवमपेक्ष्य सक्रियस्यैवावयवस्य कार्यसंयुक्तादाकाशदेशाद्विभागमारभते न निष्क्रियस्य। कारणाभावात्।

इस प्रकार जब अवयवी (घट) का विनाश हो जाता है तब उस (विनाश) के कारणस्वरूप जो दोनों अवयव (टुकड़े) हैं उनके बीच विद्यमान विभाग या तो कार्य के विनाश से संबद्ध काल (Time) की अपेक्षा रखता है या किसी स्वतंत्र अवयव की अपेक्षा करके ही केवल सक्रिय अवयव का ही विभाग कार्य-संबद्ध आकाश-देश से आरंभ करता है, निष्क्रिय अवयव का विभाग वह इसलिए आरंभ नहीं करता कि उसका कोई कारण ही नहीं दिखलाई पड़ता। [अभिप्राय यह है कि दो अवयवों का विभाग होने से घट की निवृत्ति होती है। उन दोनों अवयवों में एक को सक्रिय मानते हैं, दूसरे को निष्क्रिय। हम ऊपर देख चुके हैं कि अवयवों का पारस्परिक विभाग होने के बाद उनका विभाग आकाश देश (स्थान Space) से भी होता है। इसलिए अब प्रथम विभाग आकाशदेशविभाग को उत्पन्न करता है। किन्तु यहाँ भी निष्क्रिय अवयव से आकाश-विभाग नहीं माना जा सकता क्योंकि शक्ति के अभाव में वह कारण नहीं बन सकता। सक्रिय अवयव से ही आकाश-विभाग माना जा सकता है। 'स्वतन्त्र अवयव' का यहाँ अर्थ है अपने विनाश के पश्चात् आने वाला काल का कोई विशेष अवयव।]

विशेष—विभागज विभाग को स्वीकार करने पर द्व्यणुकोत्पत्ति की दशक्षणा या एकादशक्षणा प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। वह इस प्रकार है। जब हम विभागज विभाग को स्वीकार करते हैं तो साथ ही-साथ यह भी मानना पड़ेगा कि एक विभाग बिना किसी की अपेक्षा रखे हुए दूसरे विभाग को उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि निरपेक्ष होकर विभाग दूसरे विभाग का उत्पादन करता है तब उस पहले विभाग को विभाग समझना भूल है। वस्तुतः वह कर्म है, क्योंकि कणाद ने वैशेषिक सूत्र (१।१।१७) में कहा है—**संयोगविभागेष्वनपेक्षं कारणं कर्म**। इसका अर्थ है कि संयोग और विभाग को उत्पन्न करनेवाला पदार्थ जो अपने बाद किसी की अपेक्षा नहीं रखे वह कर्म है। विभाग (आकाशविभाग) यदि किसी निरपेक्ष विभाग (अवयवविभाग) से

उत्पन्न होने लगे तो वह उत्पादक विभाग कर्म के लक्षण में आने के कारण कर्म ही हो जायगा। इस प्रकार कर्म के लक्षण में अतिव्याप्ति-दोष होता है। दूसरी ओर यदि कर्म के लक्षण में कुछ परिवर्तन करें कि उत्तरसंयोगोत्पत्ति के समय पूर्वसंयोग के नाश की अपेक्षा है तो अव्याप्ति-दोष होगा। अन्ततः यह मानना पड़ा कि विभागज विभाग में विभागारंभ के लिए सापेक्ष विभाग ही कारण हो सकता है।

अब प्रश्न है कि अपेक्षा हो तो किसकी ? यदि द्रव्यारंभ करनेवाले संयोग की निवृत्ति करनेवाले काल की अपेक्षा करके विभागज विभाग मानते हैं तो दशक्षणा (Ten-moment process) प्रक्रिया होगी। यदि द्रव्यनाश करनेवाले काल की अपेक्षा करेंगे तो एकादशक्षणा प्रक्रिया होगी। दोनों की तुलना निम्न चित्र द्वारा की जा सकती है—

दशक्षणा

अग्निसंयोग से द्व्यणुक का आरंभ करनेवाले परमाणु में क्रिया, उसके बाद विभाग, तब आरंभक के संयोग का नाश। तब—

(१) द्व्यणुकनाश और विभागज-विभाग।

(२) श्यामनाश और पूर्वसंयोग का नाश;

(३) रक्तोत्पत्ति और उत्तरसंयोग;

(४) अग्निनोदन से उत्पन्न हुई परमाणुगत क्रिया का नाश;

(५) अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्रव्य के आरंभ के अनुकूल क्रिया;

(६) विभाग;
(७) पूर्वसंयोग का नाश;
(८) आरंभक-संयोग;
(९) द्व्यणुक की उत्पत्ति;
(१०) अंत में रक्तादि की उत्पत्ति।

एकादशक्षणा

अग्निसंयोग से परमाणु में क्रिया, उसके बाद विभाग, तब द्रव्यारंभक संयोग का नाश। तब—

(१) द्व्यणुकनाश;

(२) द्व्यणुकनाश से संबद्ध काल की अपेक्षा रखते हुए विभागज विभाग तथा श्याम का नाश;

(३) पूर्वसंयोग का नाश और रक्तोत्पत्ति;

(४) उत्तरसंयोग;

(५) अग्निनोदन से उत्पन्न परमाणुगत क्रिया का नाश;

(६) अदृष्टयुक्त आत्मा के संयोग से द्रव्यारंभ के अनुकूल क्रिया;

(७) विभाग;
(८) पूर्वसंयोग का नाश;
(९) द्रव्यारंभक-संयोग;
(१०) द्व्यणुक की उत्पत्ति;
(११) अंत में रक्तादि की उत्पत्ति।

(११ क. विभागज विभाग का दूसरा भेद)

द्वितीयस्तु हस्ते कर्मोत्पन्नम् अवयवान्तराद्विभागं कुर्वत् आकाशादिदेशेभ्यो विभागानारभते। ते कारणाकारणविभागाः कर्म यां दिशं प्रति कार्यारम्भाभिमुखं, तामपेक्ष्य कार्याकार्यविभागनारभन्ते। यथा हस्ताकाशविभागाच्छरीराकाशविभागः।

विभागज विभाग का दूसरा भेद (कारणाकारण विभाग से उत्पन्न विभाग) वह है जिसमें हाथ में उत्पन्न होने वाली क्रिया दूसरे अवयवों से विभाग करती हुई आकाशादि देशों से विभाग आरम्भ करती है। [हाथ का सम्बन्ध घट, पट, तरु आदि से होता है, इन पदार्थों में विभाग उत्पन्न होता है। हाथ शरीर का अवयव होने के कारण शरीर का कारण है किन्तु आकाश आदि शरीर के कारण नहीं हैं। हाथ से विभाग होना **कारण विभाग** है, आकाश से विभाग होना **अ-कारण विभाग** है, दोनों का—कारण और अकारण का—पारस्परिक विभाग ही शरीर का आकाशादि से विभाग उत्पन्न करता है।]

जिस दिशा में क्रिया कार्यारंभ के लिए अभिमुख दिखलाई पड़ती है उसी दिशा की अपेक्षा रखते हुए कारण और अकारण के ये विभाग कार्य और अकार्य के विभाग उत्पन्न करते हैं। उदाहरण के लिए हाथ और आकाश का विभाग उत्पन्न होने पर शरीर और आकाश का विभाग उत्पन्न होता है।

विशेष—हाथ कारण और शरीर कार्य है। उसी प्रकार आकाश अकारण तथा अकार्य है। इसलिए—

कारण + अकारण का विभाग > कार्य + अकार्य का विभाग,

जैसे, हस्त + आकाश का विभाग > शरीर + आकाश का विभाग।

ये विभाग कर्म के अनुरूप ही होते हैं। उत्तर में चला हुआ हाथ दक्षिण आकाश-देश से विभाग उत्पन्न करता है। वैसे ही पूर्व में चला हुआ हाथ पश्चिम-आकाश से विभाग उत्पन्न करता है।

न चासौ शरीरक्रियाकार्यः। तदा तस्य निष्क्रियत्वात्। नापि हस्तक्रियाकार्यः व्यधिकरणस्य कर्मणो विभागकर्तृत्वानुपपत्तेः। अतः पारिशेष्यात् कारणाकारणविभागस्तस्य कारणमङ्गीकरणीयम्।

शरीर और आकाश का विभाग शरीर गत क्रिया का कार्य नहीं माना जा सकता क्योंकि उस समय शरीर निष्क्रिय ही रहता है। [तात्पर्य यह है कि

शरीर और आकाश का विभाग हस्ताकाशविभाग से ही उत्पन्न होता है। शरीरस्थित क्रिया से इसकी उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती। हस्ताकाशविभाग होने पर हाथ ही सक्रिय रहता है शरीर तो निष्क्रिय ही रहता है क्योंकि अवयवी (शरीर) तभी सक्रिय होता है जब सभी अवयव सक्रिय होते हैं। देखिये पहले की टिप्पणी।]

शरीराकाश-विभाग को हस्त-कर्म का भी कार्य नहीं कह सकते। [जिस प्रकार हस्ताकाश-विभाग हस्त की क्रिया के कारण होता है वैसे ही हस्तक्रिया से ही शरीराकाश-विभाग क्यों नहीं हो जाता ? यही शंका है।] दूसरे आधार में रहनेवाला (व्यधिकरण) कर्म किसी दूसरे स्थान में विभाग उत्पन्न नहीं कर सकता। [अभिप्राय यह है कि क्रिया अपने आश्रय में ही अपना कार्य करती है दूसरे के आश्रय में नहीं। नहीं तो अतिप्रसंग नामक दोष होगा। यहाँ पर क्रिया हाथ में रहे और उसका कार्य—विभाग—शरीर में रहे, ऐसा कहना कठिन है। कार्य और कारण का समानाधिकरण रहना परमावश्यक है।]

इस प्रकार केवल एक ही विकल्प बच रहने से कारणाकारण विभाग को ही हम उस (शरीराकाश-विभाग) का कारण मान सकते हैं।

(१२. अन्धकार का विवेचन)*

यदवादि—'अन्धकारादौ भावत्वं निषिध्यते' इति तदसंगतम्। तत्र चतुर्धा विवादसंभवात्। तथाहि—द्रव्यं तम इति भाट्टा वेदान्तिनश्च भणन्ति। आरोपितं नीलरूपमिति श्रीधराचार्याः। आलोकज्ञानाभावः इति प्राभाकरैकदेशिनः। आलोकाभाव इति नैयायिकादय इति चेत्—

ऊपर जो आपने कहा कि अन्धकार आदि को भाव नहीं मानते (देखिये—इसी दर्शन के अनु० ४ का अन्तिम भाग)—यह बिल्कुल असंगत है क्योंकि

---

* अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत की श्रेष्ठता श्रीहर्ष ने भी नैषधचरित में शब्दच्छल से स्वीकार की है। नारायणी टीका में इसका व्याख्यान देखें। श्लोक है—

ध्वान्तस्य वामोरु विचारणायां वैशेषिकं चारु मतं मतं मे।
औलूकमाहुः खलु दर्शनं तत्क्षमं तमस्तत्त्वनिरूपणाय॥ (२२।३६)

चूँकि उलूक ही अन्धकार का विश्लेषण करने में समर्थ होता है इसलिए दर्शन का ही नाम 'औलूक' हो गया।

अन्धकार के प्रश्न पर चार प्रकार के विवाद सम्भव हैं। उदाहरणतः (१) भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों का यह कथन है कि अन्धकार एक द्रव्य है [स्वाभाविक नीलरूप से विशिष्ट द्रव्य ही अन्धकार है जैसे कज्जल, कालिख आदि हैं।] दूसरी ओर (२) श्रीधराचार्य कहते हैं कि अन्धकार वह है जिस पर नील रूप का आरोपण हुआ हो। [वास्तव में अन्धकार द्रव्य ही है किन्तु नीला रूप वास्तविक नहीं है आरोपित किया जाता है, जैसे जल पर श्वेत रूप या आकाश पर नील रूप का आरोपण होता है।] (३) तीसरा पक्ष प्रभाकर-मीमांसकों के दल के कुछ लोगों का है जो कहते हैं कि प्रकाश के ज्ञान के अभाव को अन्धकार कहते हैं। (४) अन्त में नैयायिकों का सिद्धान्त है कि प्रकाश का ही अभाव अन्धकार है। [इसे कुछ दूसरे लोग भी मानते हैं।]

उपर्युक्त शंका होने पर इसका उत्तर निम्नलिखित रूप से देंगे।

तत्र द्रव्यत्वपक्षो न घटते। विकल्पानुपपत्तेः। द्रव्यं भवदन्धकाराख्यं पृथिव्याद्यन्यतममन्यद्वा। नाद्यः। यत्रान्तर्भावोऽस्य तस्य यावन्तो गुणास्तावद्गुणकत्वप्रसङ्गात्। न द्वितीयः। निर्गुणस्य तस्य द्रव्यत्वासंभवेन द्रव्यान्तरत्वस्य सुतरामसंभवात्।

(१) इनमें अन्धकार को द्रव्य मानने वाला पक्ष संभव नहीं है क्योंकि निम्नलिखित दोनों ही विकल्प असिद्ध हो जाते हैं। प्रश्न है कि यह अन्धकार नामक द्रव्य पृथ्वी आदि नौ द्रव्यों में ही किसी के अन्तर्गत है या इनके अतिरिक्त दशम द्रव्य है? पहला पक्ष नहीं लिया जा सकता क्योंकि जिस द्रव्य में अन्धकार का अन्तर्भाव (Inclusion) करेंगे उस द्रव्य के सभी गुण अन्धकार के भी अपने गुण होंगे, ऐसी स्थिति हो जायगी। दूसरा पक्ष, कि अन्धकार दशम द्रव्य है, भी स्वीकार्य नहीं है क्योंकि अन्धकार निर्गुण होने के कारण पहले तो द्रव्य ही नहीं हो सकता (∵ द्रव्य सगुण होता है), द्रव्यान्तर होना तो दूर की बात है।

विशेष—अन्धकार को यदि पृथिवी में लेते हैं तो पृथिवी की तरह ही उसमें भी चौदह गुण मानने पड़ेंगे। फिर तो अंधकार में भी शुक्ल, पीत आदि नाना प्रकार के रूप और रस, गन्ध आदि गुण होने लगें। लेकिन बात ऐसी नहीं है! इसी प्रकार जल में अन्धकार का ग्रहण करने से शीतस्पर्श, रस, द्रवत्व आदि गुणों की उपलब्धि होने लगेगी। तेजस् में अन्तर्भाव करने पर

उष्णस्पर्श आदि की उपलब्धि होगी। पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में रहने वाले गुणों का निदर्शन भाषा-परिच्छेद (३०-३४) में किया गया है—

१. **वायु**—स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व तथा वेग नामक संस्कार (९ गुण)।

२. **तेजस्**—स्पर्शादि आठ, रूप, वेग, तथा द्रवत्व (११ गुण)।

३. **जल**—स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा स्नेह (१४ गुण)।

४. **पृथिवी**—स्पर्शादि आठ, वेग, गुरुत्व, द्रवत्व, रूप, रस तथा गन्ध (१४ गुण)।

५. **जीवात्मा**—बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, भावना नामक संस्कार, धर्म तथा अधर्म (१४ गुण)।

५ क. **ईश्वर**—संख्यादि पाँच, बुद्धि, इच्छा, प्रयत्न (८ गुण)।

६. **आकाश**—संख्यादि पाँच, शब्द (६ गुण)।

७–८. **काल और दिशा**—संख्यादि पाँच (५ गुण)।

९. **मनस्**—परत्व, अपरत्व, संख्यादि पाँच तथा वेग (८ गुण)।

दूसरे विकल्प में यह कहा गया है कि गुण द्रव्यों में रहता है जब कि अन्धकार में कोई गुण नहीं। फिर अन्धकार को किस आधार पर द्रव्य मानेंगे ? जब द्रव्य ही नहीं तो दशम द्रव्य होने की बात कहाँ से आयेगी ? दरवाजे के भीतर ही आना कठिन है, सभापति होने का स्वप्न कहाँ से देख रहे हैं ?

ननु तमालश्यामलत्वेनोपलभ्यमानं तमः कथं निर्गुणं स्यादिति चेत्—तदसारम्। गन्धादिव्याप्तस्य नीलरूपस्य तन्निवृत्तौ निवृत्तेः।

अथ नीलं तम इति गतेः का गतिरिति चेत्—नीलं नभ इतिवद् भ्रान्तिरेवेत्यलं वृद्धवीवधया। अत एव नारोपितरूपं तमः। अधिष्ठानप्रत्ययमन्तरेणारोपायोगात्। बाह्यालोकसहकारिरहितस्य चक्षुषो रूपारोपे सामर्थ्यानुपलम्भाच्च।

अब आप यह पूछ सकते हैं कि तमालवृक्ष के समान श्यामल-रूप में पाये जाने वाले अन्धकार को आप निर्गुण कैसे कहते हैं ? यह प्रश्न निस्सार है क्योंकि गन्ध, रस आदि गुणों से व्याप्त जो नीलरूप है वह व्यापक (गन्धादि गुणों) के नष्ट होते ही स्वयं भी नष्ट हो जाता है। [जहाँ-जहाँ नीलरूप है

वहाँ-वहाँ गन्ध, रस आदि गुण हैं जैसे प्रियंगु की कलिका आदि। यह व्याप्ति हुई। यहाँ नीलरूप व्याप्य है, गन्धादि व्यापक। व्यापक का यदि अभाव हो तो उस स्थान पर या उस द्रव्य में व्याप्य का भी तो अभाव होगा। अन्धकार में व्यापक (गन्ध, रस, स्पर्श आदि गुण) मिलते ही नहीं, इसलिए व्याप्य अर्थात् नीलरूप भी अन्धकार में नहीं ही है—यह सिद्ध हुआ।]

अब यह पूछा जा सकता है कि [यदि 'नीलरूपं तमः' नहीं कहकर 'नीलं तमः' अर्थात्] अन्धकार नीला होता है, ऐसा कहें तो क्या हानि है ? यह वाक्य ठीक उस वाक्य की तरह भ्रान्तिपूर्ण है जब हम कहते हैं कि आकाश नीला है। [वस्तुतः आकाश शून्य है किन्तु भ्रम से नीला प्रतीत होता है] वृद्धों (भाट्ट मीमांसकों और वेदान्तियों) के दोषों की अधिक आलोचना (बीवधा = दोषालोचन) करना व्यर्थ है।

(२) इसीलिए [श्रीधराचार्य की यह मान्यता कि] 'अन्धकार वह है जिस पर रूप का आरोपण (Imposition) हुआ है' भी ठीक नहीं। [इसीलिए = चूँकि अन्धकार द्रव्य ही नहीं है इसलिए।] कारण यह है कि अधिष्ठान (आधार Substratum) का ज्ञान हुए बिना किसी का आरोपण नहीं किया जा सकता। [रस्सी देखने के बाद ही उस पर साँप का आरोपण होता है, शंख देखने के बाद ही पित्त दोष के कारण उस पर पीतत्व आदि गुणों को आरोपित करते हैं। अन्धकार पर नीलरूप का आरोपण तभी सम्भव है जब कोई आधार हो।] दूसरा कारण यह है कि बाहरी प्रकाश की सहायता जब आँख को नहीं मिलती है तब वह रूप के आरोप में समर्थ नहीं हो सकती। [अन्धकार में कोई प्रकाश तो है नहीं कि आँख उसे देखकर उसपर नील या किसी रूप का आरोप कर सके। बाह्य प्रकाश की सहायता लेने पर ही आँख किसी पदार्थ को पीला, नीला या हरा समझती है, प्रकाशाभाव में किसी भी रूप का आरोप करना उसके लिए नितान्त असम्भव है।]

न चायमचाक्षुषः प्रत्ययः। तदनुविधानस्यानन्यथासिद्धत्वात्। अत एव नालोकज्ञानाभावः। अभावस्य प्रतियोगिग्राहकेन्द्रियग्राह्यत्वनियमेन मानसत्वप्रसङ्गात्।

अंधकार के ज्ञान को अचाक्षुष (नेत्रेन्द्रिय से असंबद्ध, मानस) ज्ञान भी नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा तम का ज्ञान होता है, यह विधान निरर्थक (अन्यथासिद्ध) हो जायगा। [भाव यह है कि अन्धकार

का ज्ञान चक्षुरिन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। यह अपेक्षा तब असिद्ध हो जायगी जब हम अन्धकार-ज्ञान को अचाक्षुष मान लेंगे।]

(३) इसलिए (अन्धकार चूँकि चाक्षुषज्ञान से ज्ञेय है इसलिए) आलोक के ज्ञान के अभाव को अन्धकार नहीं कह सकते। यह एक नियम है कि अभाव उसी इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य हो सकता है जो इन्द्रिय उसके प्रतियोगी (विरोधी) का ग्रहण कर सके। इसलिए अभाव मानस ज्ञान है [क्योंकि अभाव का प्रतियोगी यहाँ आलोक-ज्ञान है जिसे मन के द्वारा ग्रहण करते हैं। जिस वस्तु का अभाव होता है वह वस्तु उस अभाव का प्रतियोगी समझी जाती है। अभाव को धर्मी कहेंगे। आलोकज्ञानाभाव धर्मी है, आलोक-ज्ञान प्रतियोगी। जो इन्द्रिय प्रतियोगी का ग्रहण कर सकती है वही धर्मी का भी ग्रहण कर सकती है। आलोकज्ञान चाक्षुष नहीं है, मन के द्वारा ही ग्राह्य होता है इसलिए आलोकज्ञानाभाव भी मानस होगा। यदि मानस है तो अन्धकार का लक्षण आलोकज्ञानाभाव कैसे होगा ? अन्धकार तो चाक्षुष पदार्थ है न ?] इस प्रकार अन्धकार के विषय में प्रभाकर का सिद्धान्त भी समाप्त हुआ।]

(१३. अन्धकार के विषय में वैशेषिक-मत)

तस्मादालोकाभाव एव तमः। न च विधिप्रत्ययवेद्यत्वेनाभावत्वायोग इति सांप्रतम्। प्रलयविनाशावसानादिषु व्यभिचारात्। न चाभावे भावधर्माध्यारोपो दुरुपपादः। दुःखाभावे सुखत्वारोपस्य संयोगाभावे विभागत्वाभिमानस्य च दृष्टत्वात्।

इसलिए प्रकाश का ही अभाव अन्धकार है। यहाँ ऐसा संदेह नहीं किया जा सकता कि अंधकार विधानात्मक (Affirmative) शब्द के द्वारा ज्ञेय है और इसीलिए उसमें अभाव-शब्द का प्रयोग करना ठीक नहीं है। [भावात्मक शब्दों के द्वारा ही अंधकार का बोध कराना ठीक है।] प्रलय (सृष्टि का अभाव), विनाश (सत्ता का अभाव), अवसान (समाप्ति) आदि शब्द यद्यपि अभाव के द्योतक हैं किन्तु इनका प्रयोग विधानार्थक रूप से (जैसे—प्रलयः अस्ति) भी होता है—संदेह करने से इन शब्दों में व्यभिचार (असिद्धि) होगा। [इस प्रकार यह अनुमान गलत हो गया कि जिन शब्दों में नकार का उल्लेख नहीं भाव-रूप ज्ञान के विषय ही हैं। वस्तुतः नञ्_न रहने पर भी अभावार्थं

हो सकता है इसलिए अन्धकार स्वरूपतः भावात्मक होने पर भी अर्थतः अभावात्मक है।]

ऐसा उदाहरण मिलना कठिन नहीं है कि अभावात्मक पदार्थ (जैसे अन्धकार) पर भावात्मक पदार्थ (जैसे—नीलपुष्प आदि) के धर्मों (जैसे—नीलत्व) का आरोपण हो। दुःख का अभाव होने पर सुखत्व का आरोप देखते हैं तथा संयोग का अभाव होने पर विभाग का बोध होता है। [उसी प्रकार प्रकाशाभाव होने पर अन्धकार का बोध होता है।]

न चालोकाभावस्य घटाद्यभाववद् रूपवदभावत्वेनालोकसापेक्षचक्षुर्जन्यज्ञानविषयत्वं स्यादित्येपितव्यम्। यद्ग्रहे यदपेक्षं चक्षुः, तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षत इति न्यायेनालोकग्रहं आलोकापेक्षाया अभावेन तदभावग्रहेऽपि तदपेक्षाया अभावात्।

ऐसा भी कहना नहीं चाहिए कि जैसे [रूप से युक्त] घटादि पदार्थों का अभाव, आलोक की सहायता से, आँखों के ज्ञान का विषय होता है (=प्रकाश की सहायता पाकर आँखें देख सकती हैं) उसी प्रकार आलोक का अभाव भी, रूपयुक्त पदार्थ का अभाव होने के कारण, प्रकाशयुक्त आँखों के ज्ञान का विषय होगा। जिस पदार्थ का ग्रहण करने में जिसकी अपेक्षा आँखों को होती है, उस पदार्थ के अभाव का ग्रहण करने के समय भी आँखें उसी की अपेक्षा करती हैं—इस नियम से आलोक का ग्रहण करने में यदि आँखों को किसी दूसरे प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहती है तो आलोक के अभाव का ग्रहण करने के समय भी प्रकाश की अपेक्षा नहीं रहेगी।

न चाधिकरणग्रहणावश्यंभावः। अभावप्रतीतावधिकरणग्रहणावश्यंभावानङ्गीकारात्। अपरथा, 'निवृत्तः कोलाहलः' इति शब्दप्रध्वंसः प्रत्यक्षो न स्यात्—इति अप्रामाणिकं परवचनम्। तत्सर्वमभिसंधाय भगवान्कणादः प्रणिनाय सूत्रं—'द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः' (वै० सू० ५।२।१९) इति।

ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि अन्धकार (प्रकाशाभाव) का ग्रहण करने के लिए अधिकरण (स्थान, आधार) का भी ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है,

क्योंकि अभाव की प्रतीति (ज्ञान) के लिए अधिकरण का ग्रहण करना आवश्यक नहीं माना जाता। यदि ऐसा नहीं होता तो 'कोलाहल समाप्त हो गया।' इस वाक्य में जो शब्द (आवाज) का प्रध्वंस समझा जाता है वह प्रत्यक्ष नहीं होता [क्योंकि शब्द का आश्रय आकाश है, वह आकाश प्रत्यक्ष का विषय है ही नहीं—इस तरह शब्द और शब्दाभाव दोनों ही आधार के अप्रत्यक्ष होने के कारण प्रत्यक्षीकृत नहीं होते। किन्तु यह बात लोकसिद्ध है कि दोनों का प्रत्यक्षीकरण होता है। अतः अन्धकार आलोक का ही अभाव है, यह सिद्ध हो गया।] इस प्रकार दूसरे मतवादियों (जैसे—भाट्ट, वेदान्ती आदि) के सिद्धांत अप्रामाणिक हैं।

अतः इन सारी समस्याओं पर विचार करते हुए भगवान् कणाद ने सूत्र लिखा है—'अन्धकार एक अभाव है जो द्रव्य, गुण और कर्म की निष्पत्ति (उत्पत्ति) से विलक्षण होता है।' (वैशेषिक सूत्र ५।२।१९)।

विशेष—अन्धकार की उत्पत्ति और विनाश दोनों होते हैं। इसलिए सामान्य, विशेष और समवाय में तो इसका अन्तर्भाव हो ही नहीं सकता क्योंकि ये पदार्थ नित्य हैं। द्रव्य, गुण और कर्म की उत्पत्ति होती है परन्तु इनमें भी अन्धकार खपाया नहीं जा सकता क्योंकि अन्धकार की उत्पत्ति इनकी उत्पत्ति से बिल्कुल ही भिन्न है। उत्पन्न होनेवाला द्रव्य अवयवों से आरंभ होता है। अंधकार की अनुभूति अकस्मात् ही हो जाती है जब कि प्रकाश का अपसरण होता है। गुण और कर्म की उत्पत्ति द्रव्य को आधार लेकर ही होती है, अन्धकार के साथ ऐसी बात नहीं है।

इस प्रकार निष्कर्ष निकलता है कि अन्धकार अभाव है। परन्तु किसका अभाव? तो उत्तर होगा कि आलोक का अभाव ही अन्धकार है। अब प्रसंगतः अभाव को सप्तम पदार्थ मानकर इसका विवेचन करना अपेक्षित है।

(१४. अभाव का विवेचन)

अभावस्तु निषेधमुखप्रमाणगम्यः सप्तमो निरूप्यते। स चासमवायत्वे सत्यसमवायः।

संक्षेपतो द्विविधः—संसर्गाभावान्योन्याभावभेदात्। संसर्गाभावोऽपि त्रिविधः—प्राक्प्रध्वंसात्यन्ताभावभेदात्। तत्रानित्योऽनादिमः प्रागभावः। उत्पत्तिमानविनाशी प्रध्वंसः। प्रतियो-

ग्याश्रयोऽभावोऽत्यन्ताभावः। अत्यन्ताभावव्यतिरिक्तत्वे सति अनवधिरभावोऽन्योन्याभावः।

अभाव निषेधात्मक प्रमाणों से जाना जाता है तथा यह सप्तम पदार्थ माना गया है। अभाव उस पदार्थ को कहते हैं जो समवाय-संबन्ध से रहित होकर समवाय से भिन्न हो। [स्मरणीय है कि द्रव्य गुण, कर्म, सामान्य और विशेष में समवाय-संबन्ध रहता है। प्रथम विशेषण (असमवायत्वे सति) के द्वारा इन सभी पदार्थों से अभाव के पार्थक्य या व्यावर्तन का प्रदर्शन हुआ है। द्रव्यों का समवाय-संबन्ध अपने पर आश्रित गुणादि के साथ होता है। गुण और कर्म अपने आश्रय द्रव्य के साथ या अपने पर आश्रित सामान्य के साथ समवाय-संबन्ध रखते हैं। सामान्य का भी अपने आश्रयस्वरूप द्रव्य, गुण और कर्म के साथ समवाय-संबन्ध रहता है। विशेष भी किसी से पीछे नहीं। वे आश्रयस्वरूप नित्य द्रव्यों के साथ ही समवाय-संबन्ध रखते हैं। और तो और, अनित्य द्रव्य तक अपने-अपने अवयवों से समवेत रहते ही हैं। समवाय का तो समवाय इसलिए नहीं होता है कि अनवस्था-दोष होगा। 'असमवायत्वे सति' कहने से और पदार्थों की व्यावृत्ति तो हो गई किन्तु समवाय की व्यावृत्ति कैसे हो ? इसलिए साफ कहते हैं कि अभाव समवाय नहीं है (असमवायः)। यदि ऐसा नहीं कहें तो समवाय-पदार्थ में अतिव्याप्ति होगी अर्थात् अभाव का लक्षण समवाय को भी व्याप्त कर लेगा।]

संक्षेप में अभाव दो प्रकार का होता है—संसर्गाभाव और अन्योन्याभाव। [संसर्ग का अर्थ है सम्बन्ध। संसर्ग को प्रतियोगी (विरोधी) मानकर जो निषेध किया जाता है उसे संसर्गाभाव कहते हैं—एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध संसर्गाभाव है। प्रागभाव का जो उदाहरण देते हैं कि घटोत्पत्ति के पहले यहाँ घट नहीं था, तो यहाँ मिट्टी के पिंड में घट के सम्बन्ध का ही निषेध होता है। उसी प्रकार प्रध्वंसाभाव के उदाहरण में कहते हैं कि घटनाश के बाद यहाँ घट नहीं है। यहाँ मिट्टी के टुकड़ों में घट के सम्बन्ध का निषेध किया जाता है। अत्यन्ताभाव के उदाहरण में कहते हैं कि भूतल में घट नहीं है—इसमें भूतल में ही घट के सम्बन्ध का निषेध होता है। प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव क्रमशः विनाशशील और उत्पत्तिशील होने के कारण अनित्य हैं। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव नित्य हैं—उत्पत्ति-विनाश से रहित हैं। संसर्गाभाव जहाँ एक वस्तु में दूसरी वस्तु के सम्बन्ध का निषेध करता है, अन्योन्याभाव एक वस्तु को दूसरी वस्तु मानने का निषेध करता है।

पहले का उदाहरण है—क में ख नहीं है। दूसरे का उदाहरण है—क ख नहीं है।]

संसर्गाभाव तीन तरह का है—प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव तथा अत्यन्ताभाव। उनमें **प्रागभाव** अनित्य तथा सबसे अधिक अनादि होता है। [अनादितम का अर्थ है वैसा अनादि जिसका आदि हो ही नहीं। यों तो किसी पुराने मन्दिर को देख कर यह कह देते हैं कि यह अनादि काल का है। यहाँ पर यद्यपि मन्दिर अनादि नहीं है, कभी-न-कभी उसका आरम्भ हुआ ही होगा, पर ज्ञान न होने के कारण उसे अनादि कहा करते हैं। प्रागभाव वैसा अनादि नहीं है। घटोत्पत्ति के पूर्व घट का अभाव कब से है, ब्रह्मा भी नहीं बतला सकते, औरों की तो बात ही क्या है ? इस प्रकार प्रागभाव की उत्पत्ति का काल किसी के लिए भी अज्ञेय है।]

प्रध्वंसाभाव वह है जिसकी उत्पत्ति होती है किन्तु जिसका विनाश नहीं होगा। [दूसरे शब्दों में जिसका आरंभ हो किन्तु अन्त नहीं हो वही प्रध्वंसाभाव है। घट के फूट जाने पर अभाव का आरंभ तो हुआ किन्तु इसका अन्त नहीं हो सकता—ब्रह्मा भी घटाभाव की इयत्ता नहीं बतला सकते।] **अत्यन्ताभाव** वह अभाव है जो अपने प्रतियोगी में आश्रय ग्रहण करे। [प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव का आश्रय कभी प्रतियोगी (विरोधी) नहीं होता क्योंकि प्रतियोगी (घट) के साथ इनका सम्बन्ध-भेद नहीं होता—हम नहीं कह सकते कि घट में घट का अभाव है (यह उदाहरण अत्यन्ताभाव का होगा जो अनादि और अनन्त होता है)। घटोत्पत्ति के पूर्व जिस समय प्रागभाव रहता है उस समय घटाभाव का प्रतियोगी (घट) नहीं रहता। उसी तरह घटनाश के पश्चात् (प्रध्वंसाभाव के समय में) भी घटाभाव का प्रतियोगी (घट) नहीं रहता है। अन्योन्याभाव में भी यह बात है। घट घटाभाव है—ऐसा हम नहीं कह सकते। केवल अत्यन्ताभाव में ही आश्रय प्रतियोगी होता है। भूतल में घट का अभाव है—इस वाक्य में भूतल आश्रय है, घटाभाव धर्मी जिसका प्रतियोगी घट होता है। अब यह घटाभाव अपने प्रतियोगी में भी रह सकता है—घट में घटाभाव है। कोई पदार्थ अपने में नहीं रह सकता है—घट में घट नहीं रहेगा। अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव का पृथक्करण होता है। अत्यन्ताभाव प्रतियोगी के समानाधिकरण होने पर कभी भी प्रतीत नहीं होता—भूतल में घट की सत्ता होने पर उसमें घटात्यन्ताभाव होता है फिर भी प्रतीत नहीं होता। दूसरी ओर अन्योन्याभाव की प्रतीति प्रतियोगी (घट) के समानाधिकरण होने पर भी होती है। घटयुक्त भूतल में भी घटभेद की प्रतीति होती है। अत्यन्ताभाव के उपर्युक्त

लक्षण में 'अभाव' शब्द नहीं रखें, केवल 'प्रतियोग्याश्रयः' ही कहें तो प्रकाश में अतिव्याप्ति होगी। आकाश के समान सूर्यप्रकाश व्यापक है—इस वाक्य में सादृश्यसम्बन्ध का अनुयोगी प्रकाश है। प्रतियोगी आकाश है। प्रकाश आकाश में आश्रित है अतः यह भी प्रतियोगी में आश्रित होने के कारण अत्यन्ताभाव के लक्षण से ही लक्षित हो जायगा। 'अभाव' कहने से ऐसी समस्या नहीं उठेगी क्योंकि प्रकाश अभाव नहीं है।]

अन्योन्याभाव वह अभाव है जो अत्यन्ताभाव से पृथक् है तथा [कालगत] अवधि से रहित है। [अभाव शब्द का प्रयोग करने से नित्य परमाणुओं तथा आकाशादि भावों में अतिव्याप्ति रोकी जाती है। अनवधि का अर्थ है नित्य।]

ननु अन्योन्याभाव एवात्यन्ताभाव इति चेत्—अहो राजमार्ग एव भ्रमः। अन्योन्याभावो हि तादात्म्यप्रतियोगिकः प्रतिषेधः। यथा घटः घटात्मा न भवतीति। संसर्गप्रतियोगिकः प्रतिषेधोऽत्यन्ताभावः। यथा वायौ रूपसम्बन्धो नास्तीति।

न चास्य पुरुषार्थौपयिकत्वं नास्तीत्याशङ्कनीयम्। दुःखात्यन्तोच्छेदापरपर्यायनिःश्रेयसरूपत्वेन परमपुरुषार्थत्वात्॥

इति श्रीमत्सायाणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे औलूक्यदर्शनम्॥

अब यदि कोई यह सोचे कि अन्योन्याभाव ही अत्यन्ताभाव है तो हम कहेंगे कि आप लोगों को राजमार्ग (चौड़ी सड़क) पर भी रास्ता भूलना पड़ रहा है। तादात्म्य के विरोधी प्रतिषेध (Negation) को अन्योन्याभाव कहते हैं जैसे—घट पट की आत्मा नहीं है [यहाँ घट और पट के तादात्म्य (एकरूपता Identity) का प्रतिषेध होता है—घट पट नहीं है, घटात्मा पटात्मा नहीं है।] दूसरी ओर, अत्यन्ताभाव वह प्रतिषेध है जो संसर्ग या सम्बन्ध का विरोध करता है जैसे—वायु में रूप का सम्बन्ध नहीं है [इसका उलटा होगा—'वायु में रूप है', यहाँ सम्बन्ध बतलाया जा रहा है।]

ऐसी आशंका नहीं करनी चाहिए कि यह (अभाव) पुरुषार्थ प्राप्ति का साधन (उपाय) नहीं हो सकता। [तात्पर्य यह है कि छह पदार्थों के तत्त्वज्ञान

से मोक्ष प्राप्त होता है, यह तो सिद्ध है—कणाद ने ही कहा है। परन्तु अभाव के ज्ञान से यह लाभ कहाँ तक हो सकता है ? यही शंकाकार की शंका है, पर यह ठीक नहीं।] दुःख का आत्यन्तिक विनाश होना, जिसे दूसरे शब्दों में निःश्रेयस (मोक्ष) कहते हैं, वही तो परम पुरुषार्थ (Summum bonum) है। [अभाव को पुरुषार्थ का उपयोगी नहीं मानते हैं इसमें कोई क्षति नहीं है। यह अभाव स्वयं ही परम पुरुषार्थ है। दुःख का आत्यन्तिक अभाव ही मोक्ष है। इस प्रकार मोक्ष अभावात्मक शब्द है।]

इस प्रकार सायणमाधव के सर्वदर्शनसंग्रह में औलूक्य-दर्शन [समाप्त हुआ]।

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायामौलूक्यदर्शनमवसितम्।